वार्षिक रु. १००, मूल्य रु. १२

विवेक ज्योति

वर्ष ५५ अंक ७ जुलाई २०१७

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)
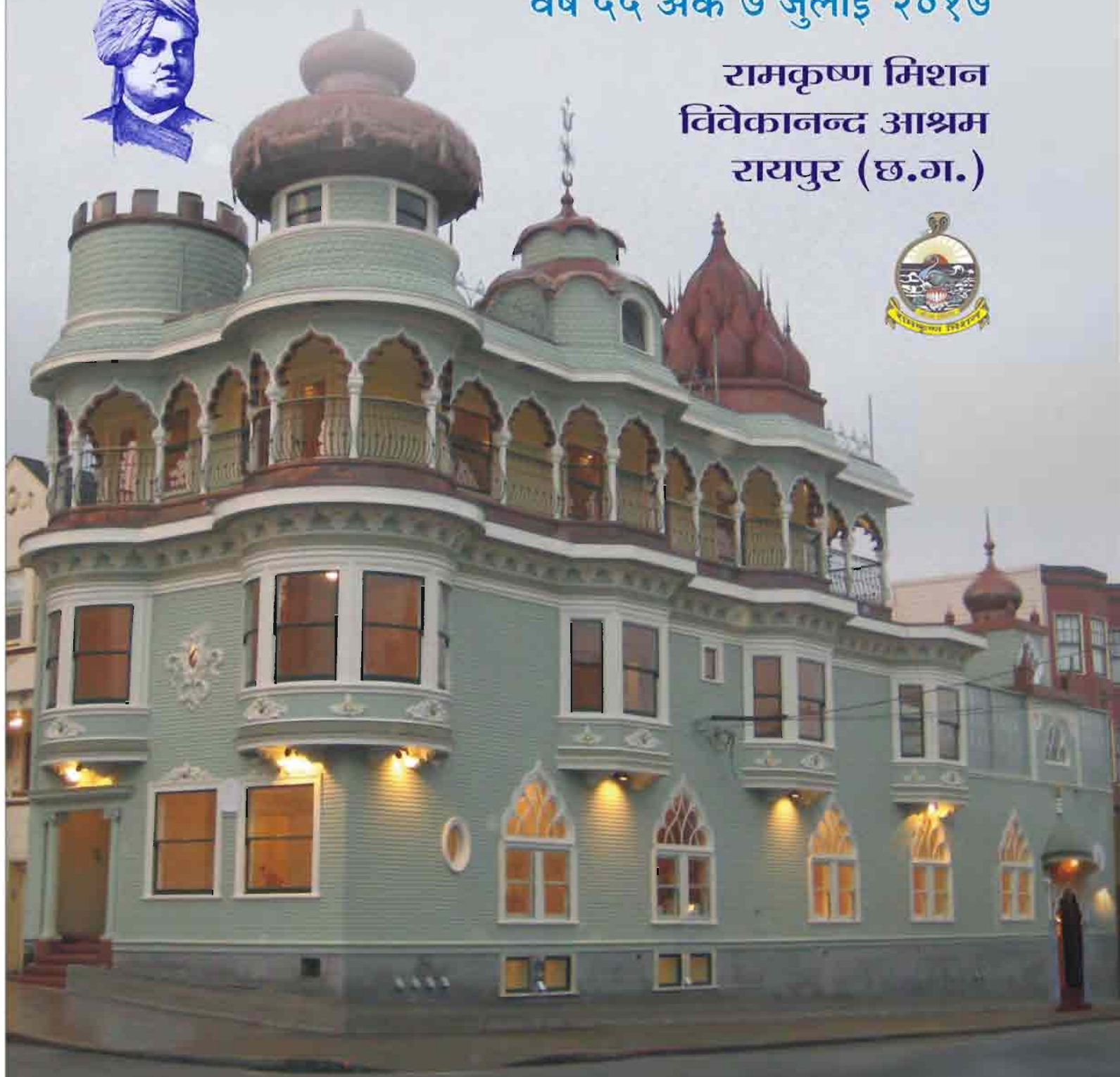
॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जुलाई २०१७

प्रबन्ध सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी प्रपत्त्यानन्द

सह-सम्पादक
स्वामी मेधजानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी स्थिरानन्द

वर्ष ५५
अंक ७

वार्षिक १००/– **एक प्रति १२/–**

५ वर्षों के लिये – रु. ४६०/–
१० वर्षों के लिए – रु. ९००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ
अथवा निम्नलिखित खाते में सीधे जमा कराएँ :
सेन्ट्रल बैंक ऑफ इन्डिया, **अकाउन्ट नम्बर** : 1385116124
IFSC CODE : CBIN0280804
कृपया इसकी सूचना हमें तुरन्त केवल ई-मेल, फोन, एस.एम.एस. अथवा स्कैन द्वारा ही अपना नाम, पूरा पता, **पिन कोड** एवं फोन नम्बर के साथ भेजें।
विदेशों में – वार्षिक ३० यू. एस. डॉलर;
५ वर्षों के लिए १२५ यू. एस. डॉलर (हवाई डाक से)
संस्थाओं के लिये –
वार्षिक १४०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ६५०/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)
विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
ई-मेल : vivekjyotirkmraipur@gmail.com
वेबसाइट : www.rkmraipur.org
आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)
रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

अनुक्रमणिका

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

यह हिन्दू मन्दिर अमेरिका स्थित रामकृष्ण संघ के शाखा-केन्द्र वेदान्त सोसायटी ऑफ नॉर्दन कैलिफोर्निया, सेनफ्रेन्सिस्को का है ।

विवेक ज्योति के अंक ऑनलाइन पढ़ें : www.rkmraipur.org

जुलाई माह के जयन्ती और त्योहार

०९	गुरुपूर्णिमा
२१	स्वामी रामकृष्णानन्द
२७	नागपंचमी
३०	तुलसीदास जयन्ती

विवेक-ज्योति के सदस्य बनाएँ

प्रिय मित्र,

युगावतार श्रीरामकृष्ण और विश्ववन्द्य आचार्य स्वामी विवेकानन्द के आविर्भाव से विश्व-इतिहास के एक अभिनव युग का सूत्रपात हुआ है । इससे गत एक शताब्दी के दौरान भारतीय जन-जीवन की प्रत्येक विधा में एक नव-जीवन का संचार हो रहा है । राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, शंकराचार्य, चैतन्य, नानक तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द, आदि कालजयी विभूतियों के जीवन और कार्य अल्पकालिक होते हुए भी शाश्वत प्रभावकारी एवं प्रेरक होते हैं और सहस्रों वर्षों तक कोटि-कोटि लोगों की आस्था, श्रद्धा तथा प्रेरणा के केन्द्र-बिन्दु बनकर विश्व का असीम कल्याण करते हैं । श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा नित्य उत्तरोत्तर व्यापक होती हुई, भारतवर्ष सहित सम्पूर्ण विश्ववासियों में परस्पर सद्भाव को अनुप्राणित कर रही है ।

भारत की सनातन वैदिक परम्परा, मध्यकालीन हिन्दू संस्कृति तथा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सार्वजनीन उदार सन्देश का प्रचार-प्रसार करने के लिए स्वामीजी के जन्म-शताब्दी वर्ष १९६३ ई. से 'विवेक-ज्योति' पत्रिका को त्रैमासिक रूप में आरम्भ किया गया था, जो १९९९ से मासिक होकर गत ५४ वर्षों से निरन्तर प्रज्वलित रहकर यह 'ज्योति' भारत के कोने-कोने में बिखरे अपने सहस्रों प्रेमियों का हृदय आलोकित करती रही है । आज के संक्रमण-काल में, जब असहिष्णुता तथा कट्टरतावाद की आसुरी शक्तियाँ सुरसा के समान अपने मुख फैलाएँ पूरी विश्व-सभ्यता को निगल जाने के लिए आतुर हैं, इस 'युगधर्म' के प्रचार रूपी पुण्यकार्य में सहयोगी होकर इसे घर-घर पहुँचाने में क्या आप भी हमारा हाथ नहीं बँटायेंगे? आपसे हमारा हार्दिक अनुरोध है कि कम-से-कम पाँच नये सदस्यों को 'विवेक-ज्योति' परिवार में सम्मिलित कराने का संकल्प आप अवश्य लें । **— व्यवस्थापक**

वर्ष ५५ जुलाई २०१७ अंक ७

श्रीगुर्वष्टकम्

शरीरं सुरूपं सदा रोगमुक्तं
यशश्चारु चित्रं धनं मेरुतुल्यं ।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।
कलत्रं धनं पुत्रपौत्रादि सर्वं
गृहं बान्धवाः सर्वमेतद्धि जातम् ।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।
षडंगादि वेदो मुखे शास्त्रविद्या
कवित्वं च गद्यं च पद्यं करोति ।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।
विदेशेषु मान्यः स्वदेशेषु धन्यः
सदाचारवृत्तेषु मत्तो न चान्यः ।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।
क्षमामंडले भूपभूपालवृन्दैः
सदा सेवितं यस्य पादारविन्दम् ।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।

पुरखों की थाती

सदाचारवतां पुंसां सर्वत्राप्यभयं भवेत् ।
तद्वद् आचार-हीनानां सर्वत्रापि भयं भवेत् ।।५५७।।

– सदाचारी व्यक्ति को कभी कहीं कोई भय नहीं होता, जबकि दुराचारी सदैव शंकालु और भयभीत रहता है ।

स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री
नष्टेन्द्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः ।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रमत्त-सचिवस्य नराधिपस्य ।।५५८।।

– आलसी व्यक्ति की कीर्ति नष्ट हो जाती है, अविश्वासी की मित्रता लुप्त हो जाती है, असंयमित इन्द्रियोंवाले व्यक्ति का कुल नष्ट हो जाता है, लालच में फँसे व्यक्ति का धर्म नष्ट हो जाता है, व्यसन में फँसे हुए मनुष्य की विद्या नष्ट हो जाती है, कंजूस मनुष्य का सुख लुप्त हो जाता है और प्रमादी मंत्रीवाले राजा का राज्य नष्ट हो जाता है ।

स्वेदितो मर्दितश्चैव रज्जुभिः परिवेष्टितः ।
मुक्तो द्वादशभिर्वर्षैः श्वपुच्छः प्रकृतिं गतः ।।५५९।।

– किसी ने कुत्ते की पूँछ को तेल से तर करके खूब मालिश की और उसे रस्सी से बाँधे रखा । बारह वर्ष बाद उसे खोलते ही वह तत्काल फिर टेढ़ी-की-टेढ़ी ही हो गई ।

विविध भजन

परम गुरु राम मिलावनहार

हनुमानदास पोद्दार

परम गुरु राम मिलावनहार ।
अति उदार, मंजुल मंगलमय, अभिमत फलदातार ।।
टूटी-फूटी नाव पड़ी मम भीषण भव नद धार ।
जयति जयति जय देव दयानिधि, बेग उतारो पार ।।

गुरुप्रताप साधु की संगति

यारी साहब

आरति करो मन आरति करो ।
गुरुप्रताप साधु की संगति आवागमन तें छूटि पड़ो ।।
अनहद ताल आदि सुध बानी, बिनु जिभ्या गुन बेद पढ़ो ।
आपा उलटि आतमा पूजो, त्रिकुटि न्हाइ सुमेर चढ़ो ।।
सारंग सेत सुरतिसो राखो, मन पतंग होइ अजर जरो ।
ज्ञान के दीप बरै बिन बाती, कह यारी तहँ ध्यान धरो ।।

(नामावली)

सच्चिदानन्द गुरु सच्चिदानन्द ।।
जय गुरु सद्‌गुरु सच्चिदानन्द ।।
जय गुरु श्रीगुरु सच्चिदानन्द ।।
जय रामकृष्ण गुरु सच्चिदानन्द ।।

मन को निर्मल बनाना बड़ी बात है

स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती

तन को जल से धुलाना सरल है मगर
मन को निर्मल बनाना बड़ी बात है ।
भोग हित दौड़ जाना स्वाभाविक ही है
भोग तज पार जाना बड़ी बात है ।।

कोशिशें कोई लाखों भले ही करें
किन्तु सद्गुरु बिना बात बनती नहीं ।
ग्रन्थ पढ़ ज्ञान पा लेना आसान है
अपना आनन्द पाना बड़ी बात है ।।

पंथ में, वेष में, देश-परदेश में
चित्त रहता फँसा राग अरु द्वेष में ।
दिल किसी का जलाना कठिन ही है क्या
ज्ञान दीपक जलाना बड़ी बात है ।।

बने विद्वान विद्या के अभिमान में
अपना मत तो चलाना असम्भव नहीं ।
पर संयम सहित धर्म की राह पर
जिन्दगी को चलाना बड़ी बात है ।।

घट में राजेश्वरानन्द आनन्द भरपूर है
पानेवाला मगर फिर भी क्यों दूर है ।
क्योंकि सुन गुरु वचन, मोह की नींद को
त्याग कर जाग जाना बड़ी बात है ।।

हरि मेरे जीवन प्रेम आधार

मीराबाई

हरि मेरे जीवन प्रेम आधार ।
और आसरो नाँहीं तुम बिन तीनूँ लोक मँझार ।।
आप बिना मोहि कछु न सुहावै निरख्यौ सब संसार ।
मीरा कहै मैं दास रावरी दीज्यो मती बिसार ।।

गुरुपूर्णिमा : पूर्णताप्राप्ति और आत्मसमीक्षा दिवस

गुरुपूर्णिमा क्या है?

ईश्वरप्राप्ति के लिये साधना-पथ पर अग्रसर होनेवाले और अपने जीवन में ईश्वरानुभूति कर जीवन को धन्य बनानेवाले साधकों, भक्तों के लिये गुरुपूर्णिमा का विशेष महत्त्व है। गुरुपूर्णिमा पूर्णता के साधनों के प्रति सजगता, पूर्णता की ओर अग्रसर और पूर्णताप्राप्ति के संकल्पों की याद दिलाती है। गुरुपूर्णिमा गुरुदेव की असीम अनन्त करुणा की याद दिलाती है। उनकी दिव्यता उनकी निष्कारण कृपा-कटाक्ष की स्मृति दिलाती है। गुरुपूर्णिमा शिष्य को उस क्षण की याद दिलाती है, जब वह संसार-ज्वाला से दग्धचित्त, काम-क्रोधादि से संत्रस्त होकर, व्याकुल हो गुरुदेव के पास गया था, तब गुरुदेव ने उसे अपने स्वाभाविक स्नेह-वात्सल्य से उसे शान्ति प्रदान की थी। उसे अज्ञानान्धकार से निकालकर ज्ञान-आलोक में प्रतिष्ठित किया था। उसकी व्यथा-पीड़ा का हरण कर शाश्वत आनन्द प्रदान किया था।

गुरुपूर्णिमा गुरु के समक्ष की गई प्रतिज्ञा, कृत-संकल्प की समीक्षा और अन्तर्निरीक्षण करने का दिवस है। हम अपनी समीक्षा करें कि शास्त्रानुमोदित श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की कृपा प्राप्त कर हम कितना लक्ष्य-पथ पर अग्रसर हुए।

गुरुतत्त्व

एक बड़ा प्रसिद्ध श्लोक है, जिसमें कहा गया है –

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

गुरु बह्मा, विष्णु, शिव और परम ब्रह्म हैं। श्रीरामकृष्ण देव कहते थे, भागवत, भक्त और भगवान, तीनों एक हैं, गुरु, कृष्ण और वैष्णव एक हैं। इससे गुरु और ईश्वर की अभिन्नता प्रतिपादित होती है।

'भक्तमाल' के प्रणेता श्री प्रियादास जी महाराज ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही गुरुवन्दना में प्रथम दोहा लिखा, जिससे श्रीगुरुदेव का स्वस्वरूप, गुरुकृपा और गुरुतत्त्व सम्यक् अभिव्यक्त होता है। वे लिखते हैं –

भक्ति भक्त भगवन्त गुरु नाम भिन्न बपु एक।
इनके पद वन्दन किये नाशैं बिघ्न अनेक।।

भक्ति - साधना, भक्त - साधक, भगवन्त – इष्ट, परमात्मा और गुरु – इष्ट निर्देशक, भगवन्नाम-प्रदाता, ये भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित होने पर भी एक ही हैं। उनके चरणों की वन्दना करने से भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों विघ्नों का विनाश हो जाता है। प्रियादासजी महाराज की इस अमोघ वाणी में गुरु और ईश्वर की अभिन्नता स्वयं सिद्ध है।

प्रश्न उठता है कि क्या जीवन में आध्यात्मिक गुरु की आवश्यकता है? क्योंकि किसी वस्तु का अभाव-बोध उसके आविष्कार का जनक होता है। उसके बाद उसकी गुणवत्ता आदि अन्य चीजों का उत्तरोत्तर क्रमशः विकास होता है।

एक बार किसी ने स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज से पूछा, क्या जीवन में गुरु की आवश्यकता है? महाराज ने उत्तर दिया – "सिद्ध गुरु का आश्रय लिए बिना जितना भी बुद्धिमान क्यों न हो, जितना भी प्रयत्न क्यों न करे, ठोकर खाकर गिरना पड़ेगा ही । चोरी करने के लिए भी एक गुरु की आवश्यकता होती है, तब फिर इतनी श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने के लिए गुरु की आवश्यकता क्यों नहीं होगी?"

शंकराचार्यजी के अनुसार तीन वस्तुएँ दुर्लभ हैं –

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः।।

नर-जन्म मिलना, मोक्षप्राप्ति की जिज्ञासा होना और मोक्षमार्ग-निर्देशक महापुरुष सद्गुरु का सान्निध्य मिलना, ये तीनों दुर्लभ हैं। इसलिए वे भाग्यशाली हैं, जिन्हें ये तीनों प्राप्त हैं। गुरुपूर्णिमा ईश्वर की असीम कृपा का प्रतीक है।

गुरु दो प्रकार के होते हैं। शिक्षा गुरु और आध्यात्मिक गुरु। शिक्षा गुरु अनेकों हो सकते हैं। वे हमें अपरा विद्या

– भौतिक क्षेत्र में प्रगति, भौतिक संसाधनों और सुख-सुविधाओं की, विज्ञान, तकनीकी, प्रबंधन, लोक-व्यवहार आदि की शिक्षा देते हैं। माता-पिता भी हमारे प्रथम गुरु हैं। हमारे सम्पूर्ण शिक्षा-संस्थानों के अध्यापक हमारे गुरु हैं। समय-समय पर हमारी विभिन्न अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में संयमित, सुव्यस्थित, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा देनेवाले पड़ोसी, परिजन, सम्बन्धी, समाज के प्रबुद्ध नागरिक हमारे गुरु हैं।

वास्तव में चेतना का उच्च विकास होने पर समस्त प्रकृति, सम्पूर्ण जगत हमें कुछ-न-कुछ शिक्षा देता है। महाभारत में एक आख्यान आता है अवधूतोपाख्यान। अवधूत ने २४ गुरु स्वीकार किये थे। उन्हें सबने शिक्षा दी थी। ऐसा बोध अत्युच्च आध्यात्मिक चेतना के विकास से बोध होता है।

दूसरे हैं आध्यात्मिक गुरु। जीवन में आध्यात्मिक गुरु का वरण एक बार ही किया जाता है। ये आध्यात्मिक गुरु हमारे सर्वस्व होते हैं। इन पर दृढ़ विश्वास और श्रद्धा-भक्ति से ही हम इनके द्वारा निर्दिष्ट इष्ट और प्रदत्त इष्ट-मन्त्र पर पूर्ण समर्पण और अटूट श्रद्धा करते हैं तथा ईश्वर-साक्षात्कार कर भवचक्र से, जन्म-मरण-बन्धन से, गहन तमान्धकार से मुक्त होकर अपने जीवन को धन्य बनाते हैं। इसलिए आध्यात्मिक गुरु का मानव-जीवन में सर्वाधिक महत्त्व है।

सद्गुरु कैसे हों?

जब आध्यात्मिक गुरु हमारे जीवन के अपरिहार्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग हैं, तो ऐसे गुरु की प्राप्ति कैसे करें? उन्हें कैसे पहचाने? उनके लक्षण क्या हैं? ऐसा गुरु कौन हो सकता है? यह महत्त्वपूर्ण विचारणीय बात है।

जब ईश्वर की कृपा होती है, तब गुरु की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है। हमें तो गुरुवरण के लिये अपने आप को तत्पर रखना है। अपने तन-मन-बुद्धि को उनके प्रति समर्पण के योग्य बनाकर रखना है। गुरु और शिष्य कैसे हों और शिष्य को कैसे गुरु के पास तत्त्वज्ञान हेतु जाना चाहिये इसका स्पष्ट निदर्शन मुण्डकोपनिषद में मिलता है –

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्

समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।। १/२/१२।।

ब्रह्मजिज्ञासु को वैराग्यवान ब्रह्मज्ञ गुरु के पास हाथ में समिधा लेकर जाना चाहिये। अर्थात् गुरु की सेवा और साधना के उपयुक्त सामग्री लेकर जाना चाहिये। इस ऋचा में गुरु और शिष्य की पात्रता इंगित है।

यदि बीज बहुत अच्छा हो, किन्तु ऊसर, अनुर्वर भूमि पर पड़े, तो वह अंकुरित नहीं होता। इसलिए किसान अपने खेत को जोतकर उसमें जैविक खाद पानी देकर उसे तैयार करता है, उसे उर्वर बनाता है, तब उसमें अच्छी फसल होती है। उससे उपजे अन्न लोकजीवनदायी होकर उसके उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। तभी उपज सार्थक होती है।

वैसे ही शिष्य में गुरु के प्रति श्रद्धा, भक्ति, विश्वास आदि गुणों की आवश्यकता होती है। क्योंकि जैसे भी हो, एक बार गुरु वरण करने के बाद उनकी वाणी पर अडिग विश्वास और अटूट श्रद्धा से ही शिष्य का उद्धार होगा। शिष्य कभी भी गुरु की वाणी पर संशय और अश्रद्धा न करे तथा उनकी आज्ञा का अतर्क पालन करे।

परमार्थ पथिक आत्मकल्याण के साधक को अपने में इन गुणों का विकास कर अपनी साधनात्मक चित्तभूमि को उर्वर बनाकर गुरु द्वारा इष्ट-मन्त्र रूपी बीज पड़ने की धैर्य पूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिए।

सच्ची गुरुभक्ति

गुरु के द्वारा प्रदत्त मन्त्र और जप-ध्यान की आज्ञा को तो लोग स्वीकार करते हैं, किन्तु अन्य व्यावहारिक निर्देशों में कुतर्क करते हैं। जबकि सत्यकाम ने गुरुआज्ञा पर गाएँ चराईं। आरुणि ने अपने शरीर को खेत की मेड़ बना डाला। रामानुजाचार्य के निर्देश पर उनके शिष्य ने उनकी प्रसूती लड़की की सेवा की। एक गुरु अपने शिष्यों से रोज चबूतरा बनवाते और तुड़वा देते। इससे उनके शिष्य नाराज हो गये। किन्तु उनके एक शिष्य ने बिना झिझक के १० बार चबुतरे को तोड़ा। लोगों ने पूछा, तुम्हें तोड़ने में कुछ बुरा नहीं लगा। उस शिष्य ने श्रद्धापूर्वक कहा, मैं तो गुरुजी की आज्ञा का पालन कर रहा था, मुझे चबुतरे से कुछ लेना-देना नहीं। यह है सच्ची गुरुभक्ति। श्रीरामकृष्ण देव के त्यागी शिष्य के ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। ऐसी गुरुभक्ति से ही भगवान मिलते हैं।

अतः हम पावन गुरुपूर्णिमा के दिवस पर आत्मसमीक्षा करें, गुरुकृपा का स्मरण करें और पूर्ण श्रद्धा-भक्ति और समर्पण से गुरु निर्दिष्ट साधना कर भगवद्-दर्शन कर मानव-जीवन को सफल बनावें। ○○○

निवेदिता की दृष्टि में स्वामी विवेकानन्द (७)

संकलक : स्वामी विदेहात्मानन्द

– ३ –

स्वामीजी के अंग्रेज शिष्य गुडविन की मृत्यु हो जाने पर स्वामीजी ने 'Requiescat in Peace' ('उसे शान्ति में विश्राम मिले') शीर्षक के साथ जो कविता लिखी, उसका प्राथमिक नाम-रूप निवेदिता द्वारा रचा गया था। इस दृष्टि से देखें, तो इस कविता को स्वामीजी तथा निवेदिता की संयुक्त रचना कहा जा सकता है, यद्यपि निवेदिता का प्राथमिक रूप छोटा-सा ही था; और स्वयं निवेदिता ने ही सूचित किया है कि वह त्रुटिपूर्ण था।

गुडविन ने भारतवर्ष के लिये और सच कहें, तो विवेकानन्द के लिये आत्मोत्सर्ग कर दिया था। स्वामीजी से मिलने के पूर्व वे जीवन के विभिन्न अनुभवों से होकर गुजरे थे। श्रीमती ओली बुल ने लिखा है, गुडविन ने उन्हें बताया था, "उनकी आयु का पहला भाग पत्रकारिता तथा साहित्यिक कर्म के प्रयास में पृथ्वी के विभिन्न दरवाजों पर धक्का देने में ही बीता था, इसके फलस्वरूप वे अज्ञेयवादी हो गये थे। न्यूयार्क में स्वामीजी के स्टेनोग्राफर के रूप में कार्य का अनुभव होने के बाद उन्होंने महीने-पर-महीने, दिन-रात स्वामीजी के साथ बिताये थे और वे जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि सौन्दर्य, आत्मा तथा ईश्वर के सम्मुखीन हुए थे।

न्यूयार्क में इन निपुण स्टेनोग्राफर ने विवेकानन्द को जान लेने के बाद सब कुछ छोड़कर केवल भरपेट भोजन के बदले में (वह भी सर्वदा पर्याप्त नहीं मिलता था) भारत तथा विश्व को "विवेकानन्द की ग्रन्थावली" प्रदान की थी, क्योंकि स्वामीजी की "ग्रन्थावली" का अधिकांश भाग गुडविन द्वारा लिपिबद्ध व्याख्यान-मालाएँ हैं, इसके बदले में उन्हें मिली थी जीवन की परम प्राप्ति । गुडविन की दृष्टि में विवेकानन्द साक्षात् ईसा थे।

स्वामीजी का गुडविन के प्रति असीम स्नेह था। गुडविन उनके लिये पुत्रवत् ही नहीं, पुत्र से भी अधिक थे। गुडविन के प्रति स्वामीजी का स्नेह देखकर उनके अन्य विदेशी शिष्यगण बहुधा आनन्दमय ईर्ष्या का बोध करते थे। गुडविन की मृत्यु का समाचार पाकर स्वामीजी आर्तनाद करते हुए बोल उठे थे, "समझ गया, पुत्रशोक कितना भयंकर होता है!"

१८९७ ई. में गुडविन स्वामीजी के साथ भारत आये थे। भारत में स्वामीजी के विभिन्न स्थानों पर व्याख्यान-यात्राओं के समय वे उनके साथ रहते थे। इसके बाद जब सम्भवत: प्रचण्ड अर्थाभाव उत्पन्न हुआ, तब उन्होंने बाध्य होकर कुछ काल के लिये 'मद्रास मेल' अखबार में काम किया और ऊटकमण्ड में रहते समय १८९८ ई. के २ जून को टायफायड से ग्रस्त होकर वे मृत्यु को प्राप्त हुए। यह मृत्यु उनके मित्रों तथा परिचितों के लिये अत्यन्त शोक का कारण हुआ था, जिन लोगों ने उनकी निष्ठा तथा सेवा के भीतर 'विशुद्ध अंग्रेज चरित्र' देखा था, जो "स्वदेश में या विदेश में, चाहे जहाँ भी हो महान तथा ईश्वरीय प्रकाश का वरण करने की क्षमता रखते थे।" ओली बुल ने लिखा था कि उनका साहसी तथा प्रेममय जीवन "हमारे अनुभव तथा आनन्द के भण्डार में महा ऐश्वर्य के समान था।"

गुडविन के देहान्त के समय स्वामीजी अल्मोड़ा में थे। निवेदिता आदि भी वहीं थीं । परन्तु गुडविन की मृत्यु का समाचार आने के समय स्वामीजी सेवियर दम्पती के साथ थोड़ी दूर स्थित किसी स्थान पर गये हुए थे। अत: समाचार आते ही स्वामीजी को नहीं मिला। परन्तु स्वामीजी के अलावा अन्य लोग भी गुडविन से इतना प्रेम करते थे कि उनके मन में भी इस मृत्यु के समाचार की भयंकर प्रतिक्रिया हुई। इस विषय में श्रीमती हेमण्ड को लिखित निवेदिता के ५ जून, १८९८ पत्र का अंश उद्धृत किया जा रहा है –

"कल दोपहर को 'गुडविन की मृत्यु हो गयी है', इस टेलिग्राम ने हम सबको शोक से आच्छन्न कर दिया है। श्रीमती ओली बुल तथा मिस मैक्लाउड उसे मेरी अपेक्षा से अधिक अच्छी तरह जानती थीं, परन्तु उसकी अन्तिम भेंट मेरे ही साथ हुई थी । उस दिन मद्रास में उसने कितना अच्छा व्यवहार किया था, अच्छाई उसका पूरी तौर से एक स्वाभाविक गुण था। यहाँ के जो हिन्दू लोग उसे जानते थे,

वे सचमुच ही दुख से अधीर हैं, यह देखकर ही समझ में आ जाता है। सदा हम लोगों के साथ काम करनेवाला एक लड़का यह समाचार सुनने के बाद तीन-चार घण्टे स्तब्ध होकर बैठा रहा, मानो उसकी बोलने की भी क्षमता चली गयी थी। एक साधु सारे अपराह्न में बैठे रहे और उसके विषय में कोमल मधुर संस्मरण सुनाते रहे। बद्री साह इस अंचल के सबसे धनी व्यक्ति हैं; उन्होंने बड़े सबेरे ही इन साधु के पास आकर कहा था कि उनका मन मानो कह रहा है कि उनका भाई गोविन्द लाल निश्चय ही मर चुका है। जब टेलिग्राम आया, तो स्वामी सदानन्द उसे छिपाये रखना चाहते थे, क्योंकि स्वामीजी बाहर गये हुए थे और वह उन्हीं के नाम आया था, परन्तु वे अपनी आँखों से बहते आँसुओं को रोक नहीं सके''; और इस व्यक्ति (बद्री साह) ने वास्तविकता को जानने की जिद की। समाचार सुनने के बाद वे बोले, ''गोविन्द लाल या गुडविन, दोनों ही मेरे लिये प्राय: समान ही हैं। यहाँ सभी लोग गुडविन को इतना चाहते हैं। स्वामीजी अभी भी बाहर हैं, आज सबेरे ही लौट आयेंगे, यह आघात उनके लिये भयंकर होगा, परन्तु सांत्वना की एक ही बात है कि वह पृथ्वी के सुन्दरतम स्थानों में से एक ऊटकमण्ड में मृत्यु को प्राप्त हुआ, न कि उस भयंकर मद्रास में। परन्तु वह स्वामीजी के कार्य हेतु और वहाँ की जलवायु के कारण शहीद हुआ है। मुझे तो लगता है कि टायफायड ने नहीं, बल्कि प्लेग ने ही उसे मार डाला है।[१] उसकी सेवा में कोई त्रुटि नहीं थी, भक्ति में कोई कमी नहीं थी। भारत के नवयुग के ऋषियों में एक अंग्रेज को पहला स्थान मिला। एक ऐसे पूर्ण हुए जीवन के लिये धूप-दीप, पुष्प-माला और मधुर संगीत, सुन्दर भजन ही उपयुक्त चढ़ावे हो सकते हैं।

भारत में अब पाश्चात्य शिष्यों की संख्या एक कम होकर ७ के स्थान पर ६ रह गयी है।[२]

सोमवार की सुबह – पिछली शाम स्वामीजी आये। वे उन वृद्ध सन्त पवहारी बाबा की मृत्यु का समाचार पाकर स्पष्टत: काफी बुझे-बुझे-से थे, जिन्होंने नाग के डँस लेने पर उसे 'प्रियतम का दूत' कहा था। इसीलिये स्वामीजी को गुडविन की मृत्यु का समाचार नहीं दिया गया। सुबह जब वे हमारे पास आये, तब उन्हें बताया गया। मिस मैक्लाउड ने यह सूचना दी। उन्होंने बड़ी शान्ति के साथ यह संवाद सुना। इसके बाद वे लगातार बातें करते रहे और समाचार-पत्र पढ़ते रहे। उन्होंने बड़े आनन्द के साथ तुम्हारे पत्र के विषय में सुना और कविता को देखा। ओ नेल, प्रिय नेल – भारत सचमुच ही पुण्यभूमि है।''

निवेदिता गुडविन के प्रति स्वामीजी के प्रगाढ़ स्नेह की बात जानती थीं, इसीलिये जब वे गुडविन की मृत्यु को बड़ी शान्त भाव से स्वीकार कर सके थे, तो निवेदिता को यह बात बड़ी आश्चर्यजनक लगी थी; और उन्होंने बड़े उच्छ्वास के साथ अपनी घनिष्ठ सहयोगिनी श्रीमती नेल को सूचित किया था कि ऐसा कर पाना पुण्यभूमि भारत के ही महापुरुषों के लिये सम्भव है। निवेदिता के उपलब्ध पत्रों में इससे अधिक कुछ नहीं मिलता, परन्तु परवर्ती घटना का विवरण उन्होंने अपनी डायरी में संरक्षित कर लिया था। बाहर से शान्त दिख रहे विवेकानन्द के ह्रदय में शोक का कैसा झंझावात चल रहा था, यह उन्होंने अपनी डायरी के पृष्ठों से उद्धृत करते हुए प्रकट किया था। यहाँ उनकी 'Notes of Some Wanderings With Swami Vivekananda' (स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण) पुस्तक से सम्बद्ध अंशों को उद्धृत किया जा रहा है। पाठक इस बात पर ध्यान देंगे कि जब गुडविन की मृत्यु हुई, तो इस विषय में न जानते हुए भी निवेदिता आदि का मन किस प्रकार एक अज्ञात विषाद तथा पीड़ा से आच्छन्न हो गया था। **(क्रमश:)**

१ उन दिनों भारत में विभिन्न स्थानों पर प्लेग की महामारी चल रही थी। स्वामीजी ने प्लेग-सेवा की योजना भी बनायी थी। वैसे गुडविन की मृत्यु टायफायड से ही हुई थी।

२ यहाँ निश्चित रूप से यह कह पाना कठिन है कि निवेदिता किन लोगों के विषय में ऐसा कह रही थीं। इस दौरान स्वामीजी के निम्नलिखित पाश्चात्य शिष्य-शिष्याएँ भारत में आये थे – सेवियर दम्पती, गुडविन, श्रीमती ओली बुल, मिस मैक्लाउड, मिस मुलर, श्रीमती पैटरसन (अमेरिकी कौंसिल की पत्नी) और स्वयं निवेदिता। कुल संख्या आठ हुई। इनमें से मिस मुलर या श्रीमती पैटरसन को छोड़ा जा सकता है। सम्भवत: मिस मुलर को ही इनमें नहीं गिना गया है। क्रिस्टिन का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वे १९०२ ई. के अप्रैल के प्रारम्भ में ही भारत आयी थीं।

सब समय – हम रोगी हैं, यह सोचते रहने से हम स्वस्थ नहीं हो सकते, उसके लिए ओषधि आवश्यक है।...मनुष्य को सदैव उसकी दुर्बलता का स्मरण कराते रहना अधिक सहायता नहीं करता। उसे बल प्रदान करो और सदैव निर्बलता का चिन्तन करते रहने से बल प्राप्त नहीं होता। दुर्बलता का उपचार सदैव उसका चिन्तन करते रहना नहीं है, बल्कि बल का चिन्तन करना है।

– स्वामी विवेकानन्द
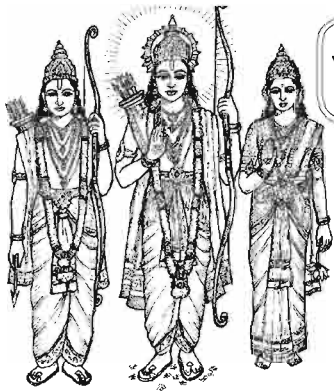
यथार्थ शरणागति का स्वरूप (२/५)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पं रामकिंकर महाराज श्रीरामचरितमानस के अप्रतिम विलक्षण व्याख्याकार थे। रामचरितमानस में रस है, इसे सभी जानते हैं और कहते हैं, किन्तु रामचरितमानस में रहस्य है, इसके उद्घाटक 'युगतुलसी' की उपाधि से विभूषित श्रीरामकिंकर जी महाराज थे। उन्होंने यह प्रवचन रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के पावन प्रांगण में १९९२ में विवेकानन्द जयन्ती के उपलक्ष्य में दिया था। 'विवेक-ज्योति' हेतु इसका टेप से अनुलिखन स्वर्गीय श्री राजेन्द्र तिवारी जी और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। – सं.)

साधक यह नहीं मान लेता कि तत्त्वत: क्या लिखा गया, उच्चकोटि की अवस्था में क्या अनुभूति होती है। इसलिये हनुमानजी ने जब पूछा – प्रभु, आपकी भक्ति कैसे करनी चाहिये? क्या तत्त्वत: करनी चाहिए? क्योंकि तत्त्वत: तो हनुमानजी भी प्रभु से अभिन्न हैं। सभी अभिन्न हैं, हनुमानजी की अभिन्नता का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। पर प्रभु कैसी अनोखी बात कहते हैं। वे हनुमानजी से कहते हैं – हनुमान, मेरे भक्त को तो अनन्य होना चाहिये। अनन्य का अर्थ है कि जिसके लिये कोई अन्य नहीं है। आजकल अनन्य का अर्थ यह माना जाता है कि हम राम के भक्त हैं, तो कृष्ण को न माने, कृष्ण के भक्त हैं, तो राम को न माने, शिव को न माने, दुर्गा को न माने। आपको कोई प्रिय लगता है और उसके अनन्य में आप डूबे हुए हैं, तो कोई बुरी बात नही है। पर हम एक को माने और एक को न मानें, शायद यह अनन्यता की उचित व्याख्या नहीं है।

महाराज जनक के दूतों से महाराज दशरथ ने पूछा – क्या आप लोग केवल पत्र ही लेकर चले आए? बड़ी मीठी बात है। पत्र लेकर तो बहुत से लोग आ जाते हैं। ये जो वक्ता हैं, ये भगवान का पत्र ही लेकर तो आते हैं। गीता क्या है? भगवान का वाक्य है, पत्र है। पर दशरथजी का प्रश्न बड़ा सांकेतिक है – पत्र ही लेकर चले आए कि आपने उनको देखा भी है। बहुत अन्तर पड़ जाता है। कबीरदासजी से किसी बड़े विद्वान व्यक्ति ने पूछ दिया – आप में और मुझमें क्या अन्तर है? उन्होंने कहा – एक ही अन्तर है। क्या? बोले –

तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता आँखिन की देखी।।

तुम वह कहते हो, जो शब्दों में लिखा हुआ है, पर उसकी परिपूर्णता तो तब है, जब लेखी-देखी में बदल जाय। पहले हम लिखा हुआ पढ़ेंगे। पर उसको पढ़ने के बाद जब देखने की उत्कण्ठा जागृत हो जाय, संत की जीवनी पढ़कर, भक्तों की जीवनी पढ़कर हमारे मन में अगर उत्कण्ठा जागृत हो जाय कि ऐसे जो दिव्य संत हैं, उनका हम दर्शन करें, ऐसे जो भगवान हैं, उनका हम दर्शन करें, तब पढ़ने की समग्र सार्थकता है, जीवन का सुफल है –

तब निज जन्म सुफल करि लेखौं।। ७/१०९/१४

इसलिये जिस समय कागभुसुण्डिजी संतों-मुनियों के पास जाकर पूछते थे, तो मुनि लोग वही दुहरा देते थे –

जेहि पूँछउँ सोइ मुनि अस कहई।
ईस्वर सर्ब भूतमय अहई।। ७/१०९/१५

ईश्वर तो सर्वत्र निवास करता है। पर वे कहते थे, महाराज मैं कैसे मान लूँ कि सर्वत्र निवास करते हैं? इसका अभिप्राय है कि सिद्धवाणी सुनकर साधक को संतोष नहीं हो रहा है। उन्होंने कहा –

निर्गुन मत मम हृदयँ न आवा।। ७/११०/७

मैं समझ ही नहीं पाता हूँ। यह तो इतनी-सी बात है, अगर किसी से भी, किसी विद्यार्थी से भी पूछ दिया जाय, तो उसको भी इतना पढ़ाया जाता है कि ईश्वर सर्वत्र रहता है। पर वह लिखा हुआ जो वाक्य है, जब सर्वत्र सचमुच दिखाई देने लगे, तो उसकी समग्र सार्थकता है। उस समग्र सार्थकता का अभिप्राय यह है कि हमारा जाना हुआ सत्य हमारे जीवन में व्यक्त हो जाय। बड़ा सुन्दर प्रश्न महाराज दशरथजी ने दूतों से किया –

भैआ कहहु कुसल दोउ बारे। १/२९०/४

उसमें आनन्द केवल इतना ही नहीं है कि दूतों ने देखा।

उसमें एक शब्द और जोड़ दिया कि अपनी आँखों से देखा कि नहीं? अब और विचित्र लगा। कोई देखेगा, तो अपनी आँख से ही तो देखेगा? पर यह सत्य नहीं है। जब आप और हम देखते हैं, तो क्या अपनी आँखों से देखते हैं? अरे भई, इतनी आँखें हैं हमारे पास। हम अखबारों की आँख से, रेडियों की आँख से, दूरदर्शन की आँख से देखते हैं। ये आँखें तो वस्तुत: केवल कहने की होती हैं। अपनी आँख से तो हम संसार को ही नहीं देख पाते। उन्होंने दूतों से पूछा कि देखा तो अपनी आँख से देखा कि नहीं? दूत और आनन्द लेने लगे। कोई और प्रश्न बाकी है क्या? अच्छा, देखा है, किन्तु अपनी आँखों से अच्छी तरह देखा है कि नहीं? शब्द कितना सुन्दर है ! –

तुम्ह नीकें निज नयन निहारे। १/२९०/४

प्रश्न सचमुच इतने भावनात्मक होते हुए भी दार्शनिक हैं, और दूत भी अन्ततोगत्वा विदेह के दूत थे। उन्होंने भी उत्तर उतना ही ऊँचा दिया। उन्होंने कहा – महाराज, आपने पूछा कि हम लोगों ने देखा कि नहीं, देखा तो अपनी ही आँखों से देखा कि नहीं और अच्छी तरह से देखा कि नहीं? महाराज, हम लोगों ने अपनी ही आँखों से अच्छी तरह से उनको देखा है। दशरथजी ने कहा, कैसे मान लें कि आप लोगों ने देखा है? तो उन्होंने कहा, महाराज, जब से आपके पुत्रों को हमने देखा, तब से हमें दिखाई देना बन्द हो गया –

देव देखि तव बालक दोऊ।
अब न आँखि तर आवत कोऊ।। १/२९२/५

यदि किसी को ईश्वर का दर्शन हुआ है, तो उसकी दो स्थितियाँ हैं। या तो उसे ईश्वर को छोड़कर कुछ न दिखाई दे या सर्वत्र ईश्वर ही दिखाई दे। अगर ईश्वर को छोड़कर अन्य कुछ दिखाई दे रहा है, तो अभी भली प्रकार से ईश्वर को नहीं देखा गया है। वह जब एक देश में दिखाई देने के साथ सर्वत्र दिखाई देने लगे, मानो यही परिपूर्णता है।

हनुमानजी ने पूछा, तो अनन्यता माने क्या हुआ? कहा, जब ईश्वर को छोड़कर और कुछ न दिखाई दे। आपको दिखाई ईश्वर दे रहे हैं और जितनी आप अपने इष्ट की प्रंशसा नहीं कर रहे हैं, उतनी दूसरों की निन्दा कर रहे हैं, तो आप में अनन्यता कहाँ है? हनुमानजी से प्रभु ने कहा, अनन्यता यही है कि सारे संसार में, प्रत्येक चराचर में मुझे देखना। लेकिन प्रभु ने एक संशोधन कर दिया। वही साधना का सत्य है। वह सिद्ध सत्य नहीं है, साधना का सत्य है। प्रभु ने हनुमान जी से कहा –

सो अनन्य जाकें असि, मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त।। ४/३

यह सारा ब्रह्माण्ड हमारे प्रभु का रूप है और मैं प्रभु का सेवक हूँ। तर्क से इसका समर्थन नहीं हो सकता। अगर सारा ब्रह्माण्ड ईश्वर का रूप है, तो मैं क्यों नहीं हूँ? यह कहने का क्या अर्थ है? पर जब भगवान ने कहा, तो उसका तात्पर्य यह था कि साधन काल में व्यक्ति अगर यह मान ले, तो अन्यत्र तो ब्रह्म नहीं दिखाई देगा। पर मैं ही ब्रह्म हूँ, ऐसा अभिमान अवश्य हो जायेगा। यह अभिमान उसके जीवन में आ जाने की सम्भावना है। साधक को तो अपने आप को सेवक मानकर ही साधना का श्रीगणेश करना चाहिये। भले ही ईश्वर सर्वत्र है, पर मैं तो सेवक मात्र हूँ। यह जो दैन्य है, विनम्रता है, यह मानो साधक का कवच है। जो व्यक्ति युद्ध को पारकर चुका है, वह किसी भी स्थिति में हो, पर जिसको युद्ध करना है, उसको तो कवच धारण करना चाहिये। जो साधक है, वह निरन्तर कवच धारण किए रहता है। कवच उसकी सुरक्षा करता है।

इसीलिये रामायण में संकेत किया गया, या तो ज्ञान के द्वारा व्यक्ति में अभिमान आ जायेगा या अभिमान की पूरी परिसमाप्ति हो जायेगी। एक ओर कहा गया –

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं।
देख ब्रह्म समान सब माहीं।। ३/१४/७

और दूसरी ओर कहा गया –

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।। ७/१२/९ छन्द

जो ज्ञान पाकर अभिमान में उन्मत्त हो जाते हैं, कि मैं ज्ञानी हूँ, वे ऊँची से ऊँची अवस्था में पहुँचकर भी नीचे गिर पड़ते हैं।

एक ही ब्रह्म ने चार रूपों में अपने को प्रगट किया। देखने में और सब कुछ एक जैसा है। साधक के रूप में भरत का जो व्यक्तित्व है, उसमें यह वाणी केवल एक ही बार सुनने को मिलेगी, पूरे रामचरितमानस में यह वाक्य उनके जीवन में फिर कभी सुनने को नहीं मिला। श्रीभरत

की जो यात्रा है, वह मानो साधना की यात्रा है। हनुमानजी की यात्रा, साधना की यात्रा है। विभीषण की यात्रा साधना की यात्रा है। अब उन यात्राओं में जो यात्रा आपको अपने संस्कारों के अनुकूल लगे, हम उस यात्रा पथ को अपने जीवन में स्वीकार कर लें। वहाँ पर यही लिखा हुआ है, श्रीभरत कभी-कभी धीरे-धीरे चलने लगते हैं, कभी बहुत तेजी से चलते हैं, कभी रुक जाते हैं। यही साधन पथ है। साधक जब चलता है, तो चलते हुए उसी मनस्थिति का अनुभव करता है, जिस स्थिति का अनुभव श्रीभरत ने किया। गोस्वामीजी कहते हैं, साधक की स्थिति क्या है? बस, संसारी वह है जो व्यक्ति केवल अपना गुण और दूसरों का दोष देखता है। बहुत मीठी बात याद आ गई। एक स्थान पर प्रवचन था। उद्घाटन करने के लिये जो नेता आए थे, उन्होंने विनम्रतापूर्वक सरल भाषा में एक बात कही। उन्होंने कहा कि वैसे तो मुझे काम सौंप दिया गया है, पर क्या कहूँ, यहाँ जो सुनता हूँ, उसका ठीक उलटा हम जीवन में आचरण करते हैं। यहाँ बताया जाता है, अपना दोष देखो, दूसरों का गुण देखो, और हम लोगों का तो कार्य ही है अपना गुण देखना और दूसरों का दोष देखना। हम यही करते रहते हैं। जो विषयी है, उसकी प्रवृत्ति ही यही है – मैं कितना अच्छा हूँ, दूसरे कितने बुरे हैं। एक दूसरी स्थिति है, जहाँ अपना दोष भी दिखाई नहीं देता, अपना गुण भी दिखाई नहीं देता, एक मात्र भगवान ही दिखाई देते हैं। वह जो स्थिति है, जहाँ न गुण है, न दोष है, न निन्दा है, न स्तुति है, वह सिद्ध स्थिति है।

निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।७/३८

यह सिद्ध की स्थिति है। साधक की स्थिति के लिये रामायण में कहा गया कि अभी वह गुण और दोष की प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हुआ है। ऐसा नहीं है कि उसका गुण-दर्शन और दोष-दर्शन संस्कार चला गया है, पर उसका उपयोग वह अलग दिशा में कर रहा है। क्या? अगर उसको गुण देखना होता है, तो वह संसार के व्यक्तियों में न देखकर भगवान के गुणों को देखता है। जब दोष देखना होता है, तो अपना दोष देखता है। इसी को कहा गया –

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा।
जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा।। २/१३०/३

जिसको सर्वत्र आपका गुण दिखाई देता है और अपना दोष दिखाई देता है। वैसे सूरदासजी के बारे में बड़ा प्रसिद्ध है कि जब सूरदासजी वल्लभाचार्यजी महाराज से मिले, तो महाराज ने उन्हें पद सुनाने के लिये कहा। उन्होंने सुनाया –

मो सम कौन कुटिल खलकामी (सूरसागर, प्रथम स्क., पृ. १४८)

वल्लभाचार्यजी ने कहा, अरे यह क्या, सूर शब्द का अर्थ है, एक तो जो नेत्रहीन होते हैं और दूसरे जो वीर होते हैं, उन्होंने कहा, क्या सूर होकर घिघियाता है, भगवान का गुण गा। बहुत सुन्दर बात है। भगवान का गुण जब देखने लगे, तो अपने दोषों की याद भी नहीं रहीं। लेकिन प्रारम्भ में ही साधक इस बात को स्वीकार कर ले कि हम स्वदोष नहीं देखेंगे, तब तो वह स्थिति उसके लिये बड़ी घातक होगी। वह अन्तिम स्थति है, जहाँ पर ईश्वर को छोड़कर गुण और दोष की सत्ता ही नहीं रहती। यहाँ पर भी श्रीभरत के संदर्भ में वही स्थिति हुई। भगवान राम ने जब भरतजी से पूछा, तब श्रीभरत जी ने यही कहा कि मुझे स्वप्न में भी न शोक है, न संदेह है, न मोह है। लेकिन फिर धीरे से कह दिया कि यह मेरी विशेषता नहीं है। तब? बोले –

केवल कृपा तुम्हारिहि कृपानंद संदोह। ७/३६

केवल आपकी दिव्य कृपा से ही यह सम्भव है। पर उसके बाद तुरन्त फिर वही प्रश्न आया। महाराज, संत क्या है, असंत क्या है? एक स्थिति ऐसी आ गई, जब संत और असंत भी नहीं रह गया। जब भगवान शंकर ने पार्वती से कह दिया – 'ज्ञानी मूढ़ न कोय'। न तो कोई ज्ञानी है, न मूढ़ है। अच्छा है, यही मन्त्र मान लीजिए। यही मानकर अगर आप व्यवहार करने चलें कि न तो कोई ज्ञानी है, न मूढ़ है, तो क्या करना है ज्ञानी के पास जाकर, चलो मूढ़ के पास ही चल कर बैठ जायँ। तो साधक के लिये ठीक नहीं होगा। इसलिए भगवान बड़ा सावधान होकर उपदेश देते हैं और कोई न कोई कवच दे देते हैं। **(क्रमशः)**

हम जितने ही शान्तचित्त होंगे और हमारे स्नायु जितने सन्तुलित होंगे, उतने ही हम अधिक प्रेमसम्पन्न होंगे और हमारा कार्य भी उतना ही अधिक उत्तम होगा।

– स्वामी विवेकानन्द

सारगाछी की स्मृतियाँ (५७)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के उपाध्यक्ष हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराजजी के साथ हुए वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य उपाध्यक्ष महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और वाराणसी के रामकुमार गौड़ ने किया है, जिसे 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

स्वामी प्रेमेशानन्द

२-१२-१९६०

महाराज – ठाकुर ने सर्वप्रथम सीताजी का दर्शन किया था। सीताजी के मुख पर अपूर्व मुस्कान थी। ठाकुर के मुख पर भी उसी तरह की मुस्कान थी। ठाकुर कहते थे कि 'पुन: आना', उनकी इस बात से पुन: आना ही पड़ता था। मास्टर महाशय ने 'उद्बोधन' पत्रिका में 'कहिले आबार आसिबे' नामक कविता प्रकाशित की थी। अब वह कविता कहीं सुनाई नहीं पड़ती। वह कविता ऐसी है –

१.

जब देखी अपूर्व वह मूरति
पदकमल-दरश कर पहली बार।
मानो किसी के प्रेम में मतवाली
वे दोनों आँखें हर बार।।
वदन-कमल हर पल मुस्काए,
वर्षण कर चतुर्दिक अमृत-धार।
जैसे पाँच वर्ष का बालक,
करे सदा आनन्द विहार।।
कितनी सुन्दर सचल मूर्ति यह,
करती विचरण होय विभोर।
धन्य धन्य हे रानी, तुम हो !
धन्य धन्य देवालय तोर !!

२.

कहाँ से आए हैं ये मानव-रतन।
देव हैं या मानव हैं, समझे न मन।।
मानो इस लोक के हों न ये जन।
किन्तु ये लगते हैं सुहृद स्वजन।।
न तो प्रथम भेंट में क्यों आकर्षण,
बहुत दिनों बाद मिटी प्राण-तृषा-तपन।
इतने दिनों बाद सुलझे जीवन के प्रश्न।।
धन्य हुआ नर-जीवन मिटा मन का अन्धकार।
पारसमणि को छूकर हो गया उद्धार।।

३.

हे हृदयरंजन ! सोचता यही हूँ तुम कौन हो हमारे।
कैसे वापस घर जाऊँगा मैं हे प्रेमनयन तारे !!
तेरे बिन कहाँ है घर ! जाना होगा सोच फटते उर हमारे।
हे अन्तर्यामी ! तुम जानो सब भाव हमारे।।
अद्भुत हास्य से करते हो मन-प्राण शीतल।
पहले की बातें स्मरण कर चुप रहूँगा कितने पल।।
प्रेमरसयुक्त स्वर में इस दास का करो हितचिन्तन।
'फिर आना, फिर आना' कहते हो जननी सम।।

(उद्बोधन, वर्ष ११, संख्या १०, कार्तिक १३१६, पृ. ६३७)

४-१२-१९६०

महाराज – साधारण लोगों की यह धारणा है कि भगवान वैकुण्ठ में लक्ष्मी के साथ रहते हैं और आवश्यकता पड़ने पर पृथ्वी पर अवतीर्ण होते हैं। किन्तु असली बात क्या है? मेरे शरीर में यदि कहीं चोट लग जाती है, तो पर्याप्त प्राणशक्ति वहाँ जाकर उपस्थित हो जाती है। उसी प्रकार यह जीव-जगत उसी समष्टि का अंश विशेष है। जब यहाँ चोट लगती है, 'ग्लानिर्भवति' – अर्थात् जब धर्म का ह्रास होता है, तब वे एक आवरण, रूप धारण कर उसके माध्यम से अपना संदेश भेजते हैं, जैसे छत का जल सिंह के मुखौटे से गिरता है। इस बार निर्गुण ब्रह्म रामकृष्ण रूपी आवरण के माध्यम से संदेश दे गए हैं, इसीलिए तो रामकृष्ण शरीर का इतना सम्मान है ! ऐसा न होकर, यदि

वह शरीर ही भगवान होता, तब तो लीलावसान के साथ ही साथ भगवान समाप्त हो जाते !

०६-१२-१९६०

प्रश्न – ज्ञानयोग की साधना किस प्रकार की होती है?

महाराज – मन से वासनाओं का त्याग करने के लिये तो यह विचार करना ही होगा कि मैं देह, मन, बुद्धि नहीं हूँ। यदि ऐसा विचार न करो, तो देह और मन की आवश्यकताओं को पूरा करते-करते नष्ट हो जाओगे। सर्दी में गरम कपड़ा, अपमान में प्रतिशोध, ये सब इच्छाएँ तो अपने से ही उपस्थित हो जाएँगी। किन्तु जब यह जानोगे कि मैं इन सभी से परे हूँ, तब तो शीत-ग्रीष्म, मान-अपमान से विचलित नहीं होओगे।

फिर भी जब इसका प्रारम्भिक अभ्यास करोगे, तब परोपकार की थोड़ी आवश्यकता होगी, इससे अपने हृदय का थोड़ा विस्तार होता है। दूसरों के सुख-दुख में सहानुभूति नहीं होने से अपने हृदय का विस्तार नहीं होगा। कामकाज के बीच में दस लोगों के साथ रहने पर विविध घात-प्रतिघात के साथ संघर्ष करते हुए भी मन के प्रशान्त भाव को सुरक्षित रखने का प्रयास करने के फलस्वरूप शरीर और मन में सहनशक्ति का भी विकास होता है।

किन्तु सहन करने का अर्थ अधीनता स्वीकार करना नहीं है। अपने आदर्श के सम्बन्ध में सजग रहकर उन-उन विषयों को ही सहन करना, जिनका प्रतिकार करने पर अपना मार्ग अशुद्ध होता है। किन्तु यदि मुमुक्षा न रहे, तो कभी भी सहन करना उचित नहीं है। इसी तरह अनेक प्रकार से धक्कामुक्की खाते-खाते वैराग्य आएगा, तब मन में आएगा ततः किम् – अब क्या? इस घर में रहकर इसे बचाने का कितना प्रयास करते हैं ! जब दिखाई पड़ेगा कि किसी प्रकार भी अब घर नहीं बचेगा, तब 'इस घर को जाने दो' कहते हुए इस घर से बाहर निकल जाना होगा, तभी मुक्ति होगी।

प्रश्न – मन यदि एक बार अन्तर्मुखी हो जाय, भीतर की ओर चला जाय, तब तो जगत की उपेक्षा की जा सकती है ?

महाराज - बिल्कुल नहीं, तब वह सभी को नारायण-भाव से प्रणाम करेगा। **(क्रमशः)**

विधि लेखी पुनि मेटि न जाई

डॉ. शरत् चन्द्र पेंढारकर

प्रसिद्ध गणितज्ञ भास्कराचार्य महान ज्योतिषी भी थे। फलित ज्योतिष के वे प्रकाण्ड पंडित थे। 'सिद्धान्त शिरोमणि' उनके द्वारा लिखित ज्योतिष-विज्ञान का एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। भास्कराचार्य की लीलावती नाम की एक कन्या थी। उसकी जन्म-कुण्डली देखने पर भास्कराचार्य को जब पता चला कि उसके भाग्य में वैधव्य लिखा हुआ है, तो वे बड़े दुखी हुए।

तब उन्होंने एक उपाय सोचा। लीलावती के लिये एक सुयोग्य वर ढूँढा गया। विवाह का दिन भी निश्चित किया गया। विवाह की तैयारी पूरी हुई। विवाह मंडप में वर-वधू ने अपना-अपना स्थान ग्रहण किया। विवाह की वेला निश्चित करने के लिये एक छोटे गोल-पात्र में एक छोटा-सा छिद्र करके उसे एक बड़े पात्र में रखा गया और लीलावती से एक ओर बैठकर अंजलि से गोल पात्र में धीरे-धीरे जल की धारा छोड़ने को कहा गया। उसे बताया गया कि पात्र भर जाने पर वह धारा छोड़ना बंद कर दे। धारा बंद होने की वेला ही विवाह की वेला होगी और पुरोहितजी उसी वेला में विवाह करायेंगे। विवाह में उपस्थित अतिथि और बाराती वेला की प्रतीक्षा करने लगे।

लीलावती जल की धारा धीरे-धीरे छोड़ने लगी। बर्तन आधा भरा ही था कि लीलावती के माथे पर लगाये गये कुंकुम-अक्षत का एक दाना अकस्मात् नीचे गोल पात्र के छिद्र में गिर जाने से धारा का गिरना बंद हो गया। इसे ही शुभ वेला मानकर विवाह सम्पन्न हुआ। लेकिन मुहूर्त की गणना गलत होने से कुछ ही दिनों बाद लीलावती के पति का निधन हो गया। उन्हें शेष जीवन विधवा के रूप में बिताना पड़ा।

ज्योतिष विज्ञान को एकदम थोथा कहना भूल होगी। सही-सही गणना करने पर जिस काल में जिस स्थान पर कोई घटना घटित होने वाली हो, वह अवश्य घटित होती है। ललाट-रेखा अमिट होती है। ○○○

तुम्हें एक 'स्वामी' के समान कार्य करना चाहिए, न कि एक 'दास' के समान। कर्म तो निरन्तर करते रहो, परन्तु दास के समान मत करो ।

– स्वामी विवेकानन्द

गुरुभक्ति के ज्वलन्त आदर्श : स्वामी रामकृष्णानन्द

स्वामी मुक्तिमयानन्द
रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, चेन्नई

भगवान ईसामसीह ने अपने अनुयाइयों से कहा था, ''तुम पृथ्वी के नमक के समान हो, परन्तु यदि नमक का स्वाद बिगड़ जाये, तो उसे पुन: किससे नमकीन किया जा सकता है? वह सर्वथा अनुपयोगी होगा, फेंक दिया जायेगा और मनुष्यों के पैरों तले रौंदा जायेगा। तुम लोग विश्व की ज्योति हो। जो शहर पहाड़ पर बसा हो, वह छिप नहीं सकता। उसी प्रकार तुम्हारा प्रकाश लोगों के सामने ऐसा चमके कि वे तुम्हारे भले कार्यों को देखकर तुम्हारे स्वर्ग में रहनेवाले पिता की प्रशंसा करें।'' स्वामी रामकृष्णानन्दजी का जीवन इन वचनों का जीवन्त दृष्टान्त था। उन्हें श्रीरामकृष्ण ने भावनेत्रों से ईसामसीह के अनुयायी के रूप में देखा था। रामकृष्णानन्दजी ने रामकृष्णमय होकर श्रीरामकृष्ण की सेवा की। उनकी गुरुभक्ति का आदर्श आज भी रामकृष्ण संघ में एक मिसाल है।

अवतार जब पृथ्वी पर आविर्भूत होते हैं, तो अपने जीवन द्वारा उच्च आदर्शों को लोगों के सामने प्रस्तुत करते हैं। उनके साथ कई अनुचर भी आते हैं, जो उनकी शिक्षा को अपने जीवन, उपदेश तथा कार्यों द्वारा जन-जन तक पहुँचाते हैं। भारतीय आध्यात्मिक परम्परा के भक्तिमार्गी आचार्यों ने मनुष्य के लौकिक सम्बन्धों को भी ईश्वराभिमुख मोड़कर उसे साधना में परिणत करने का सुन्दर सहज उपाय बताया है। हमलोग सख्य, वात्सल्य, मधुर आदि भावों से परिचित हैं। ये भाव स्वत: अपने परिवार-स्वजनों के प्रति प्रवाहित होते हैं। पर जब इन्हीं सांसारिक भावों को हम ईश्वर की ओर मोड़ते हैं, तब ये मोह के बंधन न होकर मुक्ति का साधन बन जाते हैं। स्वामी रामकृष्णानन्दजी का जीवन महावीर हनुमान के समान दास्य भक्ति की पराकाष्ठा का उदाहरण था। हनुमान जी का जीवन राममय था और रामकृष्णानन्दजी का जीवन रामकृष्णमय था। उनकी इस अगाध गुरुभक्ति और सेवाभाव से प्रभावित होकर स्वामी विवेकानन्द ने उनको रामकृष्णानन्द संन्यास नाम दिया था।

अत्यन्त नैष्ठिक और सिद्ध तंत्रसाधक ईश्वरचन्द्र चक्रवर्ती व धर्मपरायणा माता भवसुन्दरी देवी की ज्येष्ठ संतान थे स्वामी रामकृष्णानन्दजी। उनका जन्म १३ जुलाई १८६३ को बंगाल के हुगली जिले के इच्छापुर ग्राम में हुआ था। उनका नाम शशिभूषण रखा गया। माता-पिता ने बचपन से ही उन्हें धार्मिक संस्कार दिये। पिता से आनुष्ठानिक पूजादि की शिक्षा मिलने के बाद उनका पूजा-पाठ में उत्साह बढ़ा। शारदीय दुर्गापूजा में वे २४ घण्टे बिना आसन से उठे पूजा करते थे। गाँव में शिक्षा समाप्त कर वे उच्च शिक्षा के लिये अपने चाचा गिरीश चन्द्र के पास कलकत्ता आये। उनके बेटे शरत (परवर्ती काल में स्वामी सारदानन्द) शशिभूषण के चचेरे भाई थे।

ईश्वर और सत्य की खोज में दोनों भाई ब्राह्मसमाज से जुड़ गये। उन्होंने ब्राह्मसमाज के नेता केशवचन्द्र से श्रीरामकृष्ण देव की दिव्यता की प्रशंसा सुनी और उनसे मिलने दक्षिणेश्वर गये। प्रथम भेंट में ही शशि और शरत श्रीरामकृष्ण के प्रति तीव्र आकर्षण का अनुभव करने लगे। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें अपने अन्तरंग शिष्य के रूप में पहचानकर उनकी शिक्षा-दीक्षा आरम्भ की। अपने गुरु को छोड़कर रह पाना शशिभूषण के लिए दुष्कर हो गया था। जब १८८५ के अन्त में श्रीरामकृष्ण गले के कैंसर से शय्याशायी हो गये, शशिभूषण पढ़ाई आदि को तिलांजलि देकर पूर्णत: गुरु की सेवा में लग गये। तब से उनके जीवन में गुरुसेवा-भाव का जो सूत्रपात हुआ, वह उनके जीवन के अंतिम दिन तक बना रहा। ऋषि-मुनि जिन आध्यात्मिक अनुभूतियों को जप-ध्यान-समाधि से प्राप्त करते हैं, उन्हें शशि महाराज ने गुरु-सेवा द्वारा प्राप्त की थीं।

पूर्ण आत्मविभोर होकर वे श्रीरामकृष्ण की सेवा करते। शशि महाराज सेवा में इतने दत्तचित्त थे कि अपने गुरु को देखने मात्र से समझ जाते कि उन्हें क्या चाहिए। उनकी दैनन्दिन आवश्यकताओं का वे पूरा ध्यान रखते। वे सेवा में ऐसे विभोर हो जाते कि कई बार श्रीरामकृष्ण जोर देकर उन्हें स्नान-भोजनादि के लिये भेजते। उनके प्रत्येक क्षण के

एक ही केन्द्र बिन्दु थे 'श्रीरामकृष्ण'। अत: श्रीरामकृष्ण की महासमाधि उनके लिये अत्यन्त कष्टपूर्ण थी। श्रीरामकृष्ण की पूत देह के अग्निसंस्कार के बाद उन्होंने स्वयं उनकी पूत अस्थियाँ कलश में लाकर उन्हें श्रीरामकृष्ण द्वारा व्यवहृत शय्या पर स्थापित किया।

बाद में वराहनगर मठ की स्थापना होते ही वे सदा के लिए गृह त्यागकर वहाँ आ गये। वे श्रीरामकृष्ण को जीवन्त मानकर उनकी सेवा-पूजा करते थे। हम सब जानते हैं कि एक जीवित व्यक्ति की सेवा और एक चित्र की सेवा में कितना अन्तर होता है। अपने इष्ट, गुरु के चित्र की सेवा-पूजा करने पर हम जैसी भी पूजा करें, चित्र कुछ नहीं माँगता। किन्तु शशि महाराज के लिए श्रीरामकृष्ण के चित्र और अस्थिकलश में श्रीरामकृष्ण साक्षात् विद्यमान थे। वे ही उनके जीवनसर्वस्व थे। चर्मचक्षु से अदृश्य होने पर भी श्रीरामकृष्ण उनके लिए प्रत्यक्ष थे। उनके ज्ञान-कर्म-भक्ति सबके आधार थे श्रीरामकृष्ण। उनकी सेवा ही उनकी साधना थी। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं –

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।। ११.५५।।

– हे अर्जुन, जो पुरुष केवल मेरे लिए ही कर्तव्य कर्म करता है, जो मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्ति और प्राणिमात्र के प्रति वैरभाव से रहित है, ऐसा अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त करता है।'' स्वामी रामकृष्णानन्दजी का जीवन इस गीता-कथन का प्रमाण था। इन सब गुणों से युक्त एवं श्रीरामकृष्ण के प्रति गुरुभक्ति की पराकाष्ठा से महाराज ने आध्यात्मिक जीवन के उच्च अनुभव प्राप्त किए थे ।

उनके गुरु श्रीरामकृष्ण देव उनके लिए साक्षात् ईश्वर थे। वे उनकी अनन्य निष्ठा से सेवा करते थे। पूजा में कोई भी त्रुटि उन्हें असह्य थी। भक्तादि के संग बातचीत करते समय भी वे साथ में घड़ी रखते थे, जिससे श्रीठाकुर के भोग निवेदन आदि में देर न हो जाये। परवर्तीकाल में उन्होंने स्वामी शर्वानन्दजी से कहा था, "देखो बेटा, इसे श्रीरामकृष्ण का केवल चित्र मत समझो। चित्र में श्रीरामकृष्ण की साक्षात् उपस्थिति अनुभव करने की चेष्टा करो और उसी भाव से उनकी पूजा करो।'' नवागन्तुक सहायक-साधुओं से कोई भूल होने पर शशि महाराज उन पर क्रोधित हो जाते थे। श्रीरामकृष्ण को प्रात:काल दातुन देना, नैवेद्य के रूप में गरम दूध, फल-फूल-मिठाई देना और शयन इत्यादि सब पर उनकी तीक्ष्ण दृष्टि रहती थी। शशि महाराज को पूजा या आरती करते हुए देखकर, उनके भाव और उनकी पूजा से उत्पन्न आध्यात्मिक वातावरण का अनुभव कर लोग अवाक् रह जाते।
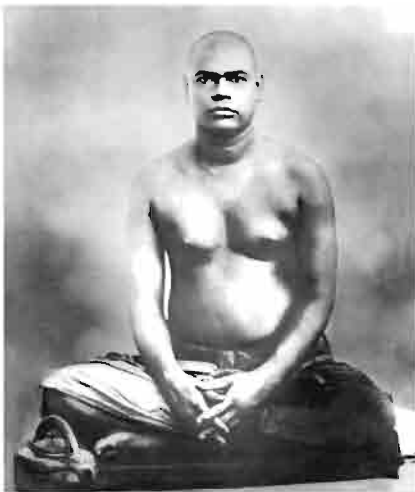
सेवा करते-करते वे अपने इष्ट से इतने एकाकार हो गये थे कि उनकी सद्य: आवश्यकता का भी उन्हें बोध होता था। एक बार शीतकाल की रात में उन्हें ठंड लगने लगी। तब उन्हें लगा कि शयन देते समय ठाकुर को कम्बल से ठीक ढँका नहीं गया है। वे मंदिर गये। उनका संदेह सही था। उन्होंने ठीक से ठाकुर के चित्र को ढँका, तब उन्हें ठण्ड से राहत मिली। ऐसी ही घटनाएँ मद्रास में भी हुई थीं। मद्रास में एक रात वे गरमी से परेशान थे। तब मध्यरात्रि में वे मंदिर में एक घण्टे तक ठाकुर को पंखा झलते रहे।

मद्रास के प्रथम मठ-भवन के निर्माण में तकनीकी त्रुटियों के कारण दरारें पड़ गई थीं, जिससे वर्षा का पानी टपकता था। एक रात जब मंदिर में श्रीठाकुर के चित्र पर पानी टपकने लगा, तब श्रीठाकुर के शयन में व्यवधान न हो, इसलिये बारिश रुकने तक छाता लेकर बैठे रहे। उनके जीवन में ऐसी उत्कृष्ट सेवा के अनेक उदाहरण हैं।

ऐसा नहीं था कि वे केवल बाह्यपूजा को ही सर्वस्व मानते थे। बाह्यपूजा सच्ची भावना, भक्ति और श्रद्धा से तभी हो सकती है, जब पूजक उस इष्ट को अपने हृदय के भीतर और बाहर दोनों जगह देखे। मन जब तक इष्ट के साथ सम्बन्ध नहीं बनाता, तब तक बाह्य पूजा केवल एक क्रिया रह जाती है, जिसकी हम धूप-दीप, फल-फूल, मेवे-मिठाई के चढ़ावे में ही इति मान लेते हैं और पुन: अपने सांसारिक भावों में डूब जाते हैं। पर शशि महाराज का अति उच्च भाव था। वे जहाँ श्रीरामकृष्ण की समयानुसार सेवा करते थे, वहीं ध्यान-समाधि के द्वारा ब्रह्म में स्थित होने में भी सक्षम थे। रंगून में बंगला साहित्य के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय ने उनसे पूछा था –"क्या पूजा

करना ही सर्वश्रेष्ठ उपासना है?'' तब उन्होंने स्पष्ट कह दिया – ''सर्वत्र भगवद्-दर्शन ही श्रेष्ठ उपासना है। ध्यान मध्यम और जप, स्तव, बाह्य पूजादि अधम हैं।'' तब शरत्चन्द्र ने पूछा, ''फिर लोग इतना बाह्याडम्बर कर पूजा क्यों करते हैं?'' इस पर महाराज ने कहा था, ''पूजा बाह्य क्रिया-कलाप से अधिक आन्तरिक विधि है। साधारणत: लोग भय से या कामनापूर्ति के लिये ईश्वर की पूजा-अर्चना करते हैं। पर यह भाव अत्यन्त तुच्छ है। भगवान के प्रति जब तक यथार्थ प्रेम न जगे और उनके विरह में अश्रुपात न हो, तब तक उनकी सच्ची पूजा सम्भव नहीं है।''

वराहनगर में रहते समय वे न केवल श्रीरामकृष्ण की सेवा-अर्चना के प्रति सजग थे, बल्कि अपने गुरुभाइयों के आहारादि की भी व्यवस्था करते थे। आर्थिक अभाव को मिटाने के लिये उन्होंने कुछ दिन गणित के शिक्षक का भी कार्य किया। भिक्षा से प्राप्त भोजन ठाकुर को अर्पण कर वे अपने गुरुभाइयों को खिलाते। उनके इस त्याग और निष्ठा की प्रंशसा करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, ''ठाकुर के देहत्याग के पश्चात् वराहनगर में हम कितना जप-ध्यान करते थे! सुबह तीन बजे उठकर शौच-स्नान के बाद ठाकुर-कक्ष में बैठकर ध्यान में डूब जाते। तब हमारे भीतर वैराग्य का भाव अति तीव्र था। जगत अस्तित्व में है कि नहीं, इसका भी किसी को होश नहीं था। लेकिन शशि चौबीसों घण्टे ठाकुर की सेवा-पूजा में व्यस्त रहता, मानो वह मठ में गृह-स्वामिनी के समान था। वही भिक्षा करके ठाकुर के भोग और हमारे भोजन की सारी व्यवस्था करता। ऐसे भी दिन गये हैं, जब सुबह से शाम के ४-५ बजे तक लगातार जप-ध्यान चलता। शशि तब देर तक खाना लेकर हमारे जप-ध्यान से उठने की प्रतीक्षा में बैठा रहता और आवश्यकता पड़ने पर ध्यान के आसन से हमें खींचकर खाना खिलाता। शशि की क्या निष्ठा देखी है ! उसे हमारे मठ का मेरुदण्ड central figure जानना।'' उनकी इसी निष्ठा से प्रेरित हो स्वामीजी उन्हें अपने सहायतार्थ विदेश बुलाना चाहते थे, किन्तु अस्वस्थ होने के कारण वे नहीं जा सके। जब स्वामीजी को उनके मद्रास के अनुयायियों ने वहाँ मठ-मिशन का स्थायी केन्द्र स्थापित करने के लिए किसी संन्यासी को भेजने का आग्रह किया, तब स्वामीजी ने स्वामी रामकृष्णानन्द जी को चुना। जो शशि महाराज मठ में ठाकुर पूजा छोड़कर काशी तक नहीं गये थे, वे अपने प्रिय और पूज्य गुरुभाई के आदेश को शिरोधार्य कर मद्रास के लिए रवाना हुए।

उनके जीवन का नया कर्मयज्ञ मार्च, १८९७ में मद्रास में प्रारम्भ हुआ। यहाँ श्रीरामकृष्ण की सेवा केवल चित्र तक सीमित न रहकर संघरूपी श्रीरामकृष्ण की सेवा में परिणत हुई और उनके अथक प्रयासों से पूरे दक्षिण भारत में रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा प्रवाहित हुई। मद्रास आने के कुछ दिनों बाद स्वामी विवेकानन्द के निवास से धन्य 'आईसहाउस' में रहने के लिए उसके तत्कालीन गृहस्वामी श्री बिलिगिरी आयंगर ने उन्हें आमंत्रित किया। वहाँ मद्रास में श्रीरामकृष्ण के प्रथम मंदिर की स्थापना से शशि महाराज का कर्मानुष्ठान का श्रीगणेश हुआ और इसी सेवायज्ञ में उन्होंने अपने जीवन की आहुति दे दी।

मद्रास की असह्य गरमी में वे शहर के एक अंचल से दूसरे अंचल तक वेदान्त, गीता, और रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा पर प्रवचन देने जाते। प्रारम्भ में अर्थाभाव था, कोई सहायक भी नहीं था। कई बार वे थककर चूर पसीने में तर-बतर लौटते, तब अपने लिए खाना बनाने तक की क्षमता उनमें नहीं रहती। कुछ पावरोटी खाकर भूख शान्त करते। इन विकट परिस्थितियों में वे श्रीरामकृष्ण के चित्र के सामने खड़े होकर उनसे ही अपनी व्यथा कहते। वे प्रत्येक अच्छे-बुरे दिनों को श्रीरामकृष्ण की इच्छा मानते थे। जैसे पिता की प्रसन्नता हेतु कार्य करने में एक सच्ची सन्तान कष्ट भुगतने पर भी हतोत्साहित नहीं होती, वैसे ही रामकृष्णानन्दजी कभी विचलित नहीं होते थे। रामकृष्ण मठ-मिशन के अष्टम संघाध्यक्ष स्वामी विशुद्धानन्द जी का प्रारम्भिक साधु-जीवन स्वामी रामकृष्णानन्दजी के सान्निध्य में गठित हुआ था। उन्होंने महाराज के बारे में कहा था, ''मद्रास आने पर उनके व्यक्तित्व का सबसे आकर्षक पहलू उनका उच्च आध्यात्मिक जीवन था। पूज्य महाराज का मन सर्वदा एक

अतीन्द्रिय आध्यात्मिक राज्य में विचरण करता था। मन की यह उच्चावस्था उनके लिए साँस लेने जैसी सहज थी। इसीलिए जागतिक कार्यों में भी वे गंभीर आध्यात्मिकता का परिचय देते। उनके सामान्य कार्यों में भी आध्यात्मिकता की एक छाप रहती। लोग उनके सेवाभाव को देखकर अवाक् हो जाते, पर उनके लिए यह बिल्कुल स्वाभाविक-सा था।''

स्वामी रामकृष्णानन्द के नेतृत्व में मद्रास में रामकृष्ण मठ का कार्य द्रुतगति से फैला। पाँच वर्षों में उनकी ख्याति पूरे दक्षिण भारत में फैल गई। १८९८ में उन्होंने शहर में बड़े स्तर पर श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव मनाना आरम्भ किया। इस उत्सव में बड़ी संख्या में लोग आते और श्रीरामकृष्ण देव के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित करते। सेवाकार्य को दृढ़ नींव पर स्थापित करने हेतु शशि महाराज एवं सभी भक्तों को स्थायी मठ भवन की आवश्यकता अनुभव हो रही थी। इसी बीच १९०६ में बिलिगिरी आयंगर के निधन के बाद ''आईस हाउस'' नीलाम हो गया, तब रामकृष्णानन्दजी को बाह्य प्रांगण में एक छोटे से कक्ष में रहना पड़ा। इसी दौरान एक भक्त ने भूमि दान दी और उसी में रामकृष्ण मठ स्थायी रूप से स्थानान्तरित हुआ। मठ के प्रथम भवन के निर्माण के बाद शशि महाराज ने १७ नवम्बर, १९०७ को मठ का उद्घाटन किया।

शशि महाराज की मूर्ति

स्वामी रामकृष्णानन्दजी अब दुगने उत्साह से कार्य करने लगे। उन्होंने मुम्बई, बैंगलोर, मैसूर, त्रिवेन्द्रम् आदि विभिन्न स्थानों में जाकर मठ-मिशन के कार्यों और रामकृष्ण-विवेकानन्द-वेदान्त के उपदेशों का प्रचार किया। उन्होंने कुछ पुस्तकें भी लिखीं – श्रीरामानुज चरित्र, Sri Krishna : Pastoral and Kingmaker, Gods & Divine Incarnations, Search after Happiness, For Thinkers on Education, इत्यादि। ये पुस्तकें जन-साधारण से लेकर विद्वानों तक सबमें समादृत हुईं। उनके प्रयासों से बैंगलोर, केरल आदि में मठ-मिशन की शाखाएँ आरम्भ हुईं। मद्रास में उनका एक बड़ा अवदान था – अनाथ बच्चों के लिये 'रामकृष्ण मिशन स्टुडेन्ट्स होम' की स्थापना। महाराज की प्रेरणा और आशीर्वाद से श्रीरामस्वामी आयंगर ने इसकी स्थापना की। आज यहाँ अनाथ बच्चों को भोजन-आवास के साथ तकनीकी प्रशिक्षण देकर आत्मनिर्भर बनने की शिक्षा दी जाती है। यह संस्था आज शशि महाराज की अमर कीर्ति के स्तम्भ समान दक्षिण भारत में विख्यात है।

शशि महाराज के प्रयासों से दक्षिण भारत श्रीमाँ और स्वामी ब्रह्मानन्दजी की चरणधूलि से पवित्र हुआ। उन लोगों को शशि महाराज ने दक्षिण के विभिन्न तीर्थों का दर्शन कराया। श्रीमाँ का शुभागमन और उनका दक्षिण-भ्रमण जैसे उनके लिये अपने सेवायज्ञ की पूर्णाहुति थी।

अत्यधिक कार्य से उनका स्वास्थ्य खराब हो गया। बैंगलोर में डॉक्टरों ने उनके चिकित्सा-परीक्षण में टी.बी. रोग का निदान किया। स्वामी ब्रह्मानन्द और सारदानन्द जी के अनुरोध पर वे कलकत्ता चले गये। बहुत चिकित्सा के बाद भी उनका स्वास्थ्य टूटता गया। मृत्यु से कुछ दिन पहले उन्हें श्रीमाँ के दर्शन की तीव्र इच्छा हुई। तब माँ जयरामबाटी में थीं। तब उन्हें श्रीमाँ के दिव्य दर्शन हुए। उस दर्शन के भाव से उन्होंने एक गीत की रचना की – 'पोहालो दुख रजनी' (दुख की निशा बीत चुकी है)। भक्त-कवि गिरीशचन्द्र ने उसे संगीतबद्ध किया। वह गीत सुनकर उन्हें अत्यन्त तृप्ति हुई। २१ अगस्त, १९११ को स्वामी रामकृष्णानन्द सदा के लिये अपने गुरु और इष्ट के पादपद्मों में लीन हो गये।

उनका देहावसान सुनकर श्रीमाँ ने कहा था, ''मेरा शशि चला गया। मेरी कमर टूट गई है।'' सिस्टर देवमाता ने उन्हें श्रद्धांजलि देते हुए लिखा था, 'सेन्ट पॉल ने गेलटियन को लिखे अपने पत्र में कहा था, 'मैं नहीं, बल्कि ईसा मुझमें हैं।' यही भाव स्वामी रामकृष्णानन्दजी का अपने और अपने गुरु के प्रति था। अपने को पूर्णत: मिटाकर वे केवल श्रीरामकृष्ण की सत्ता में ही जीवित थे।'' ○○○

गुरुपूर्णिमा क्यों?

भालचन्द्र सेठिया, कानपुर

महर्षि पराशर और मछुआरे की पुत्री सत्यवती के पुत्र का नाम श्रीकृष्ण था। द्वीप पर पैदा होने के कारण उन्हें कृष्ण द्वैपायन कहा जाता था।

अपने पूर्वजों की भाँति द्वैपायन भी अत्यन्त मेधावी, तपस्वी, परमात्मा के अनुसन्धान में सतत संलग्न रहने वाले थे। वे भी उस विद्या के अभ्यर्थी थे, जिसे प्राप्त कर लेने पर कोई भी व्यक्ति संसार के द्वंद्वों से मुक्त हो सकता है। इसी विद्या के विषय में कहा गया है '**सा विद्या या विमुक्तये**'। इसी विद्या का वेद भी प्रतिपादन करते हैं। वेद अनादि और अनन्त हैं। वेद सृष्टि से पूर्व भी थे, आज भी हैं और प्रलय के बाद भी रहेंगे। वे अविनाशी हैं। किन्तु उस ज्ञान की अनुभूति के लिए वैज्ञानिक की भाँति कठोर साधना करनी पड़ती है।

कृष्ण द्वैपायन से पूर्व अनेक साधकों ने, जिन्हें हम ऋषि कहते हैं, उन्होंने इस वेद को जाना, उसे साक्षात् देखा और पूर्ण रूप से मुक्त जीवन जीया। परमात्मा का साक्षात्कार करने के कारण उन्हें द्रष्टा भी कहा जाता है। इन ऋषियों ने अपने जिज्ञासु शिष्यों को मौखिक रूप से सुनाकर यह विद्या प्रदान की। सुन-सुनकर यह विद्या अन्यान्य साधक, ऋषियों को प्राप्त होती थी, इसीलिए इसे 'श्रुति' भी कहा जाता है।

महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने इन ऋषियों के द्वारा बताये गये ज्ञान को संकलित कर चार भागों में संहिताबद्ध किया। इनके नाम हैं – ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद। इनमें से प्रत्येक का विषय वेद ही है। कृष्ण द्वैपायन ने वेद का सम्पादन व्यास रूप से, विस्तार से किया था, इसलिए लोग उन्हें वेद व्यास कहने लगे।

वेद को विस्तार से संहिताबद्ध करने के पश्चात् व्यास जी की इच्छा हुई कि इसे विद्वानों के लिए संक्षेप में प्रस्तुत किया जाए। इसलिए उन्होंने उस सम्पूर्ण विद्या को ब्रह्मसूत्र के रूप में लिख दिया। ब्रह्मसूत्र को व्याससूत्र भी कहते हैं। इसके बाद उन्होंने इस सम्पूर्ण ज्ञान को एक विशिष्ट शैली में एक ग्रन्थ में समाहित किया। इस ग्रन्थ को पंचम वेद कहते हैं, जिसे हम महाभारत के रूप में जानते हैं । भगवद्गीता इसी महान ग्रन्थ का एक भाग है। किन्तु दूर द्रष्टा महर्षि वेदव्यास वेदों के गूढ़ ज्ञान को जन-जन तक पहुँचाना चाहते थे, इसलिए पहले उन्होंने अत्यन्त रोचक कथाओं के माध्यम से सत्रह पुराण लिखे। फिर भी उन्हें संतोष नहीं हुआ, तो अन्त में उन्होंने अठारहवाँ पुराण श्रीमद्भागवत की रचना की। यह ग्रन्थ वास्तव में ब्रह्म का अथवा श्रीकृष्ण का साक्षात् शब्द-विग्रह है।

ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और भगवद्गीता प्रस्थानत्रयी कहलाते हैं। इनमें चारों वेदों के अन्तिम भाग या ज्ञानकाण्ड का मूल स्वरूप वर्णित है, इसीलिए इसे वेदान्त कहते हैं।

सम्पूर्ण सनातन वैदिक संस्कृति महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित इन ग्रन्थों पर आधारित है। आदि शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य आदि अनेक आचार्यों, दार्शनिकों, महात्माओं, सन्तों आदि ने इन्हीं के आधार पर सम्पूर्ण मानवता को ज्ञान का प्रकाश दिया है। ज्ञान, कर्म और भक्ति के मार्ग इन्हीं ग्रन्थों से निकले हैं। षड्दर्शन इन्हीं ग्रन्थों की उत्पत्ति है। चैतन्य महाप्रभु, कबीर, नानक, संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई, स्वामी विवेकानन्द आदि का समाज को प्रदेय वेदव्यास द्वारा रचित इन्हीं ग्रन्थों का प्रसाद है। भारत की किसी भी भाषा के लेखक, कवि, कलाकार अथवा संगीतकार का आदि स्रोत ये ही ग्रन्थ हैं। सनातन वैदिक संस्कृति की मान्यताएँ इन्हीं से निकली हैं। विश्व में भारत की पहचान इन्हीं ग्रन्थों के विचार, अर्थात् वेदान्त से होती है।

चूँकि हमने सब कुछ महर्षि वेद व्यास द्वारा प्रणीत ग्रंथों से सीखा और प्राप्त किया है, इसलिए वे ही सनातन वैदिक संस्कृति के आदि गुरु हैं और इसीलिए युगों से हम उनके जन्मदिन आषाढ़ की पूर्णिमा को 'गुरुपूर्णिमा' कहते हैं। यह पर्व हमारी संस्कृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पर्व है। यह पर्व प्रतिवर्ष हमें याद दिलाता है कि इस अद्वितीय सनातन वैदिक संस्कृति के संरक्षण हेतु हमें वेदव्यास रचित इन ग्रन्थों के अनुशीलन अर्थात पठन-पाठन की परम्परा निरन्तर बनाए रखनी चाहिए। ○○○

आध्यात्मिक जिज्ञासा (१९)

स्वामी भूतेशानन्द

(ईश्वरप्राप्ति के लिये साधक साधना करते हैं, किन्तु ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जो साधक की साधना में बाधा बनकर उपस्थित होती हैं। साधक के मन में बहुत से संशयों का उद्भव होता है और वे संशय उसे लक्ष्य पथ में भ्रान्ति उत्पन्न कर अभीष्ट पथ में अग्रसर होने से रोकते हैं। इन सबका सटीक और सरल समाधान रामकृष्ण संघ के द्वादश संघाध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने दिया है। इसका संकलन स्वामी ऋतानन्द जी ने किया है, जिसे हम 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

महाराज – मान लो, किसी ने यज्ञ आरम्भ किया। यज्ञ में सकाम भाव से आहुति दे रहा है। आहुति देते-देते उसके मन से सकाम भाव चला गया। किन्तु जिस उद्देश्य से उसने विहित कर्म प्रारम्भ किया था, इसलिए उसे पूर्ण किया। वह कर्म कैसा हुआ? वह निष्काम हो गया। जिस क्षण उसके मन से कामनाएँ चली गईं, तभी वह निष्काम कर्म हो गया। निष्काम कर्म के साथ ज्ञान का विरोध नहीं है। क्योंकि निष्काम कर्म तुम्हें संकुचित नहीं कर रहा है। तुम्हें शरीर में आबद्ध नहीं कर रहा है। इसीलिए निष्काम कर्म से ज्ञान का कोई विरोध नहीं है। जहाँ विरोध है, वहाँ शंकराचार्य कह रहे हैं – वह सकाम कर्म की दृष्टि से है।

निदिध्यासन के साथ स्वभावत: कर्म का विरोध नहीं है। मननातीत, विचारातीत जो सिद्धान्त है, उसमें निमज्जित होने को निदिध्यासन कहते हैं। उस समय कर्म नहीं होता। जहाँ भी विक्षेप हो रहा है, वहाँ हम श्रेय वस्तु नहीं देख रहे हैं।'' इसलिए वहाँ विरोध नहीं होगा। ये जो कहते हैं कि 'विरोध होता है', वह केवल बहाना है। इस विरोध के बहाने हमलोग मानवता से च्युत होते जा रहे हैं, जो हमारे लिए उचित नहीं था। यह सिद्धान्त है। विरोध कहाँ है? जहाँ मैं समाधिस्थ होता हूँ, वहाँ विरोध है। जहाँ मैं सभी प्रकार के व्यवहार कर रहा हूँ, वहाँ विरोध नहीं है।

– शंकराचार्यजी के मतानुसार निष्काम कर्म से ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति होगी।

महाराज – ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति होने पर ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है।

– उसके बाद ज्ञान की अन्तरंग साधना होती है।

महाराज – अन्तरंग साधना हुई ब्रह्माकारा वृत्ति। ज्ञानमार्गी उन्हीं वृत्तियों को मानते हैं।

– नहीं, उसे निदिध्यासन कहते हैं ।

महाराज – निदिध्यासन माने ध्यान। ध्यान माने, सभी इन्द्रियवृत्तियों को निरुद्ध कर ध्यान होता है।

– क्या उस अवस्था में श्रवण-मनन के लिये अवसर नहीं रहता?

महाराज – श्रवण-मनन के बाद निदिध्यासन आता है। श्रवण-मनन करने के बाद निदिध्यासन होता है।

– नहीं, मान लीजिए, ज्ञान-निष्ठा आते तक कर्म करता गया। किन्तु निष्काम कर्म के साथ ज्ञान के जो अन्तरंग साधन हैं – श्रवण-मनन-निदिध्यासन, क्या उन्हें करना होगा?

महाराज – निष्ठा माने 'नितरां स्थिति'। निष्ठा माने दृढ़ता नहीं है। निष्ठा का तात्पर्य है, उसमें अवस्थिति। जब ज्ञान में स्थिति होती है, तब प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है। जब प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है, तब वह ध्यान की अवस्था है। तब कर्म के साथ विरोध (विक्षेप) है। किन्तु उसके पहले तक विरोध नहीं है। यही हमारा कहना है। क्योंकि स्वामीजी की दृष्टि में कर्म और ध्यान दोनों विरुद्ध वस्तु नहीं हैं। यदि कर्म ठीक से करते रहे, तो वह कर्म उसकी साधना में अग्रसर होने में बाधा नहीं है। कर्म के साथ यदि वह विचार करे, लक्ष्य के प्रति सजग रहे, तो उसे अन्य कोई कठिनाई नहीं होती है।

– शंकराचार्य जी ने तो चित्तशुद्धि की बात कही है।

महाराज – शंकराचार्यजी ने चित्तशुद्धि को महत्व दिया है। स्वामीजी कहते हैं कि ब्रह्माकारावृत्ति अलग से उदित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। चित्तशुद्धि हो जाने के

बाद ब्रह्माकारावृत्ति की क्या आवश्यकता है? चित्तशुद्धि का अर्थ है – चित्त जो हमारे ज्ञान को आवृत्त करके रखा है, उसी आवरण के शुद्ध होने पर तो हो गया। आत्मा स्वत: प्रकाशित है।

– चित्तशुद्ध होने से ही हो गया? क्या इसका अर्थ है कि ब्रह्माकारा वृत्ति की आवश्यकता नहीं है?

महाराज – वृत्ति क्या है? क्या वृत्ति से ज्ञान की अभिव्यक्ति कर पा रहे हो? ब्रह्म स्वत:प्रकाश है।

– क्या वही चित्त नहीं रह जा रहा है? चित्त का नाश तो करना होगा।

महाराज – चित्त रह गया का क्या अर्थ है? शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि, शुद्ध आत्मा एक है, यह ठाकुर की स्पष्ट वाणी है। जब चित्त शुद्ध हो गया, तो आवरण हट गया। तब नाश करने का कुछ रहा ही नहीं। कोई बाधा देने वाला नहीं रहा।

– ज्ञान और कर्म समन्वय के सम्बन्ध में शंकराचार्यजी बार-बार कह रहे हैं, वह सम्भव नहीं है।

महाराज – वहाँ कर्म का तात्पर्य सकाम कर्म है।

– क्या निष्काम कर्म में कोई विरोध नहीं है?

महाराज – कोई विरोध नहीं है। निष्काम कर्म ज्ञान में सहायक है। विरोध कहाँ होता है? सकाम कर्म करते समय निदिध्यासन के साथ विरोध कहा जा रहा है। यदि तुम सोचो कि इस समय मुझे यह करना है, वह करना है, तब तो तुम्हारी ज्ञान में निष्ठा नहीं रहेगी। स्वेच्छापूर्वक निश्चित करके चलना होगा। एक और बात है। ज्ञानावस्था में सकाम ही क्यों निष्काम कर्म भी करना सम्भव नहीं है। उस दृष्टि से शंकराचार्यजी कहते हैं कि ज्ञान और कर्म का समन्वय सम्भव नहीं है।

प्रश्न – महाराज, हम लोग तो कर्म में रूपान्तरित वेदान्त पथ पर चलने की चेष्टा करते हैं। थोड़ा साधन-भजन करते हैं और कार्य करते हैं। शेष समय ऐसे ही बिताते हैं। संघ की दृष्टि से देखने पर बाहर की तुलना में हम लोग अच्छे हो सकते हैं। किन्तु हम लोगों के व्यक्तिगत जीवन में ठीक जैसा परिणाम होना चाहिए, अपेक्षाकृत जैसी सफलता या सन्तुष्टि मिलनी चाहिए, वैसा तो नहीं पा रहे हैं।

महाराज – क्या करना होगा? हमलोग औपचारिक रूप से कर रहे हैं। हमलोगों को आन्तरिकता से करना होगा। हो सकता है कि हमलोग लोक-प्रदर्शन हेतु नहीं कर रहे हैं, किन्तु आन्तरिकता से करना होगा। खा रहा हूँ, खाऊँगा, 'हरि से लागि रहो रे भाई। तेरी बनत बनत बन जाई॥' – (यह आलस्य है) वास्तव में हमलोग यही कर रहे हैं। इसीलिये सन्तुष्टि नहीं हो रही है। एक-दो कदम आगे बढ़ने से समझ में नहीं आता। सूर्य की ओर यदि हम लोग चलना प्रारम्भ करें, तो एक कदम भी चलने पर तो आगे ही बढ़ रहे हैं। किन्तु क्या हम समझ रहे हैं कि सूर्य के समीप जा रहे हैं? **(क्रमश:)**

लघुकथा

काश ! कोई सद्गुरु हमारा भी हाथ पकड़ लेता

सन्तोष मालवीय 'प्रेमी', इटारसी

रेलगाड़ी अपनी गति से चली जा रही थी। एक अबोध नन्हा बच्चा रेल-कम्पार्टमेन्ट में बार-बार इधर-उधर आ-जा रहा था। कोई यात्री जब उस बच्चे से कुछ पूछता, तब वह चुप रहता, केवल मुस्कुरा देता। बार-बार इधर से उधर आना-जाना उसे अच्छा लगने लगा।

वह बच्चा अपने परिजनों से बिछुड़ गया था, क्योंकि वह रेलगाड़ी के आधे भाग में ही आ-जा रहा था, जबकि उसके परिजन गाड़ी के दूसरे आधे भाग में थे। परिजनों से बिछुड़कर वह दुखी दिखाई दे रहा था।

न तो वह अपनी समस्या किसी से कह रहा था, न ही यात्रियों में से कोई उसकी समस्या समझकर उसकी सहायता कर पा रहा था। तभी बच्चे के परिजन उसे ढूढ़ते हुये आये और उसका हाथ पकड़कर लेकर चले गये। बच्चा खुश हो गया।

ऐसी घटनाएँ घटती रहती हैं। घटना पर विचार कर मुझे लगा कि हम सभी उस परम पिता परमेश्वर के बच्चे हैं और जगतरूपी रेलगाड़ी के कम्पार्टमेन्ट में बिछुड़ गये हैं। काश ! कोई सद्गुरु हमारा भी हाथ पकड़कर परम पिता परमात्मा से मिला देता ! ○○○

प्रभु मंगलमय हैं

स्वामी सत्यरूपानन्द

यह संसार अनादि अनन्त है। इतने जन्मों के संस्कार को दूर करने के लिए हमें दीर्घकाल तक एकाग्रतापूर्वक भगवान के नाम का जप करना चाहिए। तब वे अनन्त काल के संस्कार निकल जायेंगे। हो सकता है प्रारम्भ में हमारा मन न लगे, किन्तु हम नियम से नाम जप करते रहें। आध्यात्मिक जीवन के साथ-साथ हमें अपने सामान्य जीवन में भी हमेशा सावधान रहना चाहिए। जगत व्यवहार में हमें दो चीजों से बहुत सावधान रहना चाहिए – १. भोजन २. बोलना। कौन सा भोजन कितनी मात्रा में हमारे लिये हितकर है, यह विचारकर भोजन करना चाहिये। दूसरी बात है बोलने में सावधानी रखनी चाहिये। वाणी मधुर और हितकर बोलनी चाहिये। इससे सबसे मधुर सम्बन्ध होता है। भक्त को कभी किसी से कठोर व्यवहार नहीं करना चाहिये। जीवन में कठिनाइयाँ तो आती रहती हैं, लेकिन हमें सावधान रहकर भगवान के प्रति शरणागत होकर प्रार्थना करनी चाहिये।

संसार के जितने सुख हैं, सभी अस्थायी हैं। स्थायी सुख, स्थायी प्रसन्नता केवल भगवान के नाम-जप, भजन, प्रार्थना, सद्ग्रंथ-पठन, स्मरण-मनन से ही मिलती है। इसलिये अपनी दिनचर्या में हमें इन सबको जोड़ना है।

साधक-जीवन में पवित्रता बहुत आवश्यक है। हमारे चरित्र में, व्यवहार में यदि पवित्रता नहीं है, तो हम चाहे जितना जप-ध्यान क्यों न करें, वह फूटे घड़े में पानी रखने के समान है।

साधक भक्त को कभी अहंकार नहीं करना चाहिए। अहंकार हमारा सबसे बड़ा शत्रु है। अहंकार के कारण ही हम कितने जन्म लेकर दुख-भोग रहे हैं। अहंकार कैसे दूर करें? इसका सबसे सरल उपाय है। ये सारे कार्य करने की हममें अपनी कोई शक्ति नहीं है, भगवान ही स्वयं हमसे करा रहे हैं, ऐसा सोचकर भगवान के पूर्ण शरणागत हो जायँ। इससे सदा भगवान का स्मरण होता रहेगा और कभी कर्तृत्व का अभिमान नहीं होगा। शरणागति में सबसे बड़ा बाधक हमारा अहंकार ही है।

हमारे व्यवहार से किसी को कष्ट न हो, इसका ध्यान रखें। दूसरों को कष्ट न दें। जब तक जीवन है, असुविधा बनी रहेगी, ऐसा सोचकर कष्टों को सहन करना चाहिये और शरणागति का अभ्यास करना चाहिये। कर्म के बिना कोई एक क्षणभर भी नहीं रह सकता। अकर्मण्यता से तामसिकता बढ़ती है। अत: हमें पुरुषार्थ करना चाहिए, जोर लगाकर प्रयत्न करना चाहिए,

किन्तु भगवान के शरणागत रहना चाहिये। भगवत्-समर्पण बुद्धि से किया गया कर्म योग हो जाता है। भगवान की याद अगर नहीं आयेगी, तो वह कर्म भोग हो जायेगा।

कर्म करते समय सावधान रहें। अपने कर्तव्य कर्मों के पालन में सावधानी बरतनी चाहिये। क्योंकि अपने कर्मों से ही प्रारब्ध बनता है और अच्छे-बुरे प्रारब्ध-कर्मों को सबको भुगतना ही पड़ता है।

संसार में अकेले आये हैं, तो अकेला ही जाना पड़ेगा। संसार से अधिक अपेक्षा नहीं रखना। जब भी मन में अपेक्षायें उठें, तब भगवान से प्रार्थना करना – ''हे प्रभु ! तुमको छोड़कर हम किसी की भी अपेक्षा न करें। तुम्हें जो करना है, वह तुम्हीं करो।''

प्रभु की इच्छा ही पूर्ण होती है। मंगलमय प्रभु मंगल ही करते हैं। लेकिन अपना मन नहीं मानता कि प्रभु की इच्छा ही पूर्ण होती है, वे सब कुछ मंगल ही करते हैं। जब हमारे अनुकूल होता है, तब लगता है कि हमारी इच्छा पूर्ण हो रही है। किन्तु सत्य यही है कि वे मंगलमय हैं।

प्रभु को केन्द्र बनाकर जितनी भी चर्चा हो, उतना ही अच्छा है। संसार की चर्चा न करें। जगत् व्यवहार में काम की बात छोड़कर व्यर्थ वाणी, समय न गँवायें। कर्म करें, किन्तु निष्काम और अनासक्त होकर करें। इसी से चित्तशुद्धि होगी।

जब हृदय में भगवान के प्रति प्रेम का संचार होगा, भगवान की प्रसन्नता के लिये ही कर्म होगा, तब कर्म पूजा में परिवर्तित हो जायेगा। तब कर्म और साधन-भजन में कुछ विपरीतता नहीं दिखेगी, द्वन्द्व नहीं होगा। सब जगह भगवान का ही बोध होने लगेगा। ○○○

दीनबन्धु एण्डूज

दक्षिण अफ्रीका, डरबन के एक स्टेशन पर अनेक भारतीय लोग एण्डूज जी से मिलने आए थे। तब उनकी मुलाकात गाँधीजी से नहीं हुई थी। उन्होंने किसीसे पूछा कि गाँधीजी कहाँ हैं? गाँधीजी वहीं खड़े थे और उन्होंने कहा, ''मैं ही गाँधी हूँ।'' तब एण्डूज जी ने तुरन्त गाँधीजी को झुककर प्रणाम किया और उनकी चरण रज अपने माथे पर लगा ली। भारत तब स्वतन्त्र नहीं हुआ था। एक यूरोपियन एक भारतीय को झुककर प्रणाम कर रहा है, इस पर एण्डूज जी के बारे में अनेक अखबारों में भला-बुरा छपा था।

महात्मा गाँधी ने एण्डूज जी के जीवन-चरित की भूमिका में लिखा था, ''मिस्टर एण्डूज और मेरे बीच में सगे भाइयों से भी अधिक घना सम्बन्ध है...उनसे बढ़कर सच्चा, विनम्र और भारत-भक्त दूसरा व्यक्ति देश में विद्यमान नहीं है।''

दीनबन्धु एण्डूज का पूरा नाम चार्ल्स फ्रीयर एण्डूज था। उनका जन्म १२ फरवरी, १८७१ में इंग्लैण्ड के न्यूकासिल ऑनटाइन के वेस्टगेट क्षेत्र में हुआ था। उनके पिता एण्डूज को वीरता की कथाएँ सुनाया करते थे और उसमें कभी-कभी भारत की भी कथाएँ रहती थीं। एकबार एण्डूज ने अपनी माँ से कहा था, ''माँ, मुझे खाने के लिए प्रतिदिन थोड़ा चावल दिया करो। जानती हो, मैं बड़ा होकर भारत जाऊँगा। पिताजी कहते हैं कि वहाँ सब लोग चावल खाते हैं, इसलिए जाने से पहले इसकी आदत पड़ जानी चाहिए।'' माँ ने उनकी बात हँसी में उड़ा दी।

एण्डूज की माँ बचपन में उन्हें बहुत धार्मिक कथाएँ सुनातीं थीं और वे भी बड़े उत्साह से उन्हें सुनते थे। वे पढ़ने में बहुत तेज थे और परीक्षा में प्रथम आते थे। पाठशाला में वाद-विवाद प्रतियोगिता में भी वे सबसे आगे रहते थे। बचपन से ही उनका मन प्रार्थनाशील था और वे चर्च में नियमित रूप से प्रार्थना करते थे। पढ़ाई पूरी होने के बाद वे लंदन में चर्च से सम्बन्धित एक कॉलेज में पढ़ाते थे और बाद में कैम्ब्रिज के वेस्टकॉट हाउस कॉलेज के वाइस प्रिंसिपल बन गए। यहाँ वे धर्मशास्त्र की शिक्षा देते थे। धर्म का इतिहास उनका प्रिय विषय था।

२० मार्च, १९०४ को एण्डूज भारत आए। दिल्ली के सेन्ट स्टीफेन्स कॉलेज में दर्शनशास्त्र के अध्यापन का कार्य आरम्भ किया। विद्यार्थियों से उन्हें बहुत प्रेम था। वे उन्हें अच्छा जीवन जीने की और गरीब लोगों की सेवा करने की प्रेरणा देते थे। वे विद्यार्थियों के साथ शहर की गन्दी बस्तियों में जाकर अछूत लोगों की सेवा करने जाते थे।

उन्होंने भारतीय धर्मशास्त्र का अध्ययन किया और अनेक महान लोगों से मिले।

इसके बाद वे रविन्द्रनाथ टैगोर द्वारा स्थापित शान्ति निकेतन में बहुत समय रहे। उन्होंने फिजी देश में भारतीयों पर हो रहे अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाई । उस समय शर्तबन्द कूली प्रथा के अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार द्वारा अनेक भारतीयों को फिजी में काम करने के लिए भेजा जाता था और वहाँ उन पर अनेक अत्याचार होते थे। एण्डूज ने वहाँ जाकर भारतीयों की स्थिति देखी और उसकी रिपोर्ट बनाकर उस समय की भारत की ब्रिटिश सरकार को दी। उनके प्रयासों से फिजी में भारतीयों पर हो रहे अत्याचार बन्द हो गए ।

दीनबन्धु के जेब में जितने पैसे रहते थे, वे बिना संकोच के भिखारियों को सब दे देते थे। कभी-कभी तो उनके पास भी कुछ नहीं रह जाता था। एकबार उन्होंने एक अखबार बेचने वाले लड़के को बुलाकर उससे अखबार माँगा। अखबार लेने के बाद जब उन्होंने जेब में पैसे निकालने के लिए हाथ डाला, तो पता चला कि पैसे ही नहीं हैं। बालक भी बड़े ध्यान से एण्डूज जी को देख रहा था। अचानक वह बोल उठा, ''आप एण्डूज साहब हैं, मैं आपसे पैसे नहीं लूँगा।'' ऐसा कहकर वह तुरन्त वहाँ से चला गया।

एक दिन ठंड की सुबह वे ट्रेन से उत्तर भारत के किसी स्टेशन पर पहुँचे । स्टेशन मास्टर के कार्यालय के सामने उन्हें बहुत भीड़ दिखाई दी । उन्होंने देखा कि स्टेशन मास्टर गुस्से में एक काँपती हुई गरीब महिला को अनाप-शनाप बोल रहा है । भीड़ से उन्हें मालूम हुआ कि वह महिला ठंड से बचने के लिए स्टेशन मास्टर की ऑफिस में जल रही आग ताप रही थी और स्टेशन मास्टर ने उसे निकाल दिया । एण्डूज ने स्टेशन मास्टर को खूब डाँटा और उससे कहा कि उसे ठीक बर्ताव करना नहीं आता । इसके बाद उन्होंने स्वयं ही अपनी शाल उस गरीब महिला को ओढ़ा दी । ○○○

लोग क्या सोचेंगे?

स्वामी मेधजानन्द

हमारी जीवन की नब्बे प्रतिशत ऊर्जा इसी प्रयत्न में चली जाती है कि लोग हमारे बारे में ऐसा कुछ सोचें, जो हम नहीं हैं। इस ऊर्जा का यथोचित उपयोग कर हम जो बनना चाहें, उसमें लगा सकते हैं। – ***स्वामी विवेकानन्द***

बहुत बार हमारी अत्यधिक ऊर्जा लोगों को प्रसन्न करने में व्यय हो जाती है। ऐसा लगता है कि हमारा भाग्य-निर्धारण कुछ लोगों की सही-गलत सोच पर ही आधारित है। कुछ भी नया अथवा असामान्य कार्य आरम्भ करने से पूर्व यह विचार बहुधा आता है कि लोग मेरे बारे में क्या सोचेंगे? किन्तु यह स्मरण रहना चाहिए कि आज तक जितने भी महान पुरुषों के द्वारा इस संसार में महान कार्य हुए हैं, उन्हें प्रारम्भ में लोगों के उपहास और विरोध का सामना करना पड़ा है। उपहास, विरोध और स्वीकृति – इस प्रक्रिया से प्रत्येक सच्चे और महान व्यक्ति को गुजरना पड़ा है। शिक्षा, उद्योग, व्यापार, तकनीकी, शोध अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यदि कोई लीक से हटकर कुछ महान कार्य करता है, तो उसे इस प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है।

हम समाज में रहते हैं और हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम समाज के मूलभूत रीति-नियमों के अनुसार चलें। सामाजिक नीति-विधान किसी व्यक्ति की मनगढ़न्त कल्पनाएँ नहीं हैं। हमें यह भी देखना है कि कहीं हम आत्म-विश्वास के नाम पर आत्म-प्रवंचना तो नहीं कर रहे हैं? कहीं आत्म-विश्वास के नाम पर हम अपनी निकृष्ट वासनाओं में तो लिप्त नहीं हो रहे हैं? हमारा जीवन, आचरण और कार्य नैतिक धरातल पर होना चाहिए।

अपना लक्ष्य निर्धारण करने के बाद उसके भले-बुरे का विचार कर हमें आगे बढ़ना चाहिए और अपने शुभचिन्तकों के परामर्श पर ध्यान देना चाहिए। यदि हमें विश्वास हो जाए कि हम जिस उचित मार्ग पर जा रहे हैं, उसके विषय में अन्य लोग नहीं समझ पा रहें हैं, तो हमें उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए।

ज्यॉर्ज वाशिंग्टन कार्वर ने कृषि एवं अन्य क्षेत्रों में अनेक आविष्कार किए थे। वे नीग्रो थे और तत्कालीन वर्णभेद नीति के कारण उन्हें अनेक अत्याचारों को सहन करना पड़ा था, किन्तु उन्होंने इसका प्रतिकार नहीं किया। इस विषय में उन्होंने कहा था, 'यदि मैंने अपनी समस्त शक्ति लोगों के विरोध में व्यय कर दी होती, तो अपने मिशन को पूरा करने के लिए मुझमें शक्ति ही न रहती।''

इस बात का स्मरण रहे कि दूसरों की कटु आलोचनाओं की उपेक्षा हम वीरतापूर्वक करें, न कि कायरता के भाव से। प्रसिद्ध कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपनी कविता में कहा है –

क्षमा शोभती उस भुजंग को,
जिसके पास गरल हो,
उसको क्या जो दंतहीन,
विषहीन, विनीत सरल हो।

यह तभी हो सकता है कि जब हमारी समग्र दृष्टि अपने लक्ष्य पर रहे। वह लक्ष्य इतना महान हो कि हमारी सम्पूर्ण शक्तियाँ उसी लक्ष्य की ओर परिचालित हो जाएँ। जब हमारा लक्ष्य महान होता है, तब दूसरों की प्रशंसा अथवा निन्दा हमें अपने पथ से विचलित नहीं कर सकती।

स्वामी विवेकानन्द के जीवन की एक घटना है। एकबार वे जिस रेलगाड़ी के डिब्बे में बैठे थे, उसमें दो अंग्रेज भी सवार थे। वे अंग्रेजी में स्वामीजी पर व्यंग्य कर रहे थे। उन्हें लगा कि स्वामीजी को अंग्रेजी नहीं आती है। स्वामीजी भी चुपचाप ऐसे बैठे थे, जैसे वे कुछ नहीं जानते हों। जब ट्रेन स्टेशन पर रुकी, तो उन्होंने स्टेशन मास्टर से अंग्रेजी में पानी माँगा। बेचारे वे दोनों अंग्रेज हक्के-बक्के रह गए और उन्होंने स्वामीजी से पूछा कि उन्होंने कुछ प्रतिक्रिया क्यों नहीं व्यक्त की। तब स्वामीजी ने कहा,''मित्रो! यह मैं पहली बार मूर्खों से नहीं मिल रहा हूँ !''

महान कवि भर्तृहरि ने अपनी रचना नीति-शतकम् में कहा है, –

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।

नीति में निपुण मनुष्य चाहे निन्दा करें या प्रशंसा, सम्पत्ति आए या अपनी इच्छानुसार चली जाए, मृत्यु आज हो अथवा युगों के बाद हो, किन्तु धीर व्यक्ति अपने मार्ग से एक कदम भी विचलित नहीं होते। ○○○

गीतातत्त्व चिन्तन (८/११)

(आठवाँ अध्याय)

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के संस्थापक सचिव थे। उनका 'गीतातत्त्व चिन्तन' भाग-१,२, अध्याय १ से ६वें अध्याय तक पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है और लोकप्रिय है। ७वाँ अध्याय का 'विवेक ज्योति' के १९९१ के मार्च अंक तक प्रकाशित हुआ था। अब प्रस्तुत है ८वाँ अध्याय, जिसका सम्पादन रामकृष्ण अद्वैत आश्रम के स्वामी निखिलात्मानन्द जी ने किया है । सं.)

तत्त्व की दृष्टि से तीन प्रकार के साधक होते हैं। एक सगुण निराकार के उपासक, दूसरे निर्गुण-निराकार, वेदान्त के, अद्वय ब्रह्म के उपासक और तीसरा है सगुण-साकार की उपासना। श्रीभगवान ने पहले के श्लोकों में सगुण निराकार और निर्गुण निराकार की चर्चा की। अर्जुन ने जब पूछा कि क्या इनसे कोई सरल उपाय है, तो वे १४वें श्लोक में कहते हैं –

अन्यन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।१४।।

– यः (जो) अनन्यचेताः (अनन्यचित्त होकर) नित्यशः (सदा ही) सततं (निरन्तर) मां (मुझको) स्मरति (स्मरण करता है), पार्थ (हे पार्थ !) तस्य (उस) नित्ययुक्तस्य (नित्य युक्त) योगिनः (योगी के लिए) अहं (मैं) सुलभः (सहज प्राप्त हूँ) (हूँ)

– "हे पार्थ ! जो (मनुष्य) अनन्यचित्त होकर सदा निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त (अर्थात सदा मुझमें लगे हुए) योगी के लिए मैं सुलभ हूँ।"

ठीक है अर्जुन, मैं तुम्हें सुलभ रास्ता बतलाता हूँ। सुलभ रास्ता क्या है? यह सगुण-साकार की उपासना का रास्ता है। प्रभु सगुण भी हैं और रूपवाले भी हैं। वे तो गुणों की खान हैं, गुणों की समष्टि हैं। पर इसके साथ ही साथ उनका भुवनमोहिनी रूप भी है, जो हमारे मन को आकर्षित करता है। वे कृष्ण के रूप में आए हैं। कृष्ण का मतलब? कृष् धातु से कृष्ण शब्द निकला है। कृष् का मतलब होता है खींचना और कृष्ण का अर्थ हुआ वह जो खींचता है। तो कृष्ण वह है, जो प्रत्येक क्षण खींचता है, आकर्षित करता है, कर्षण करता है। अपने स्वरूप का तीसरा पक्ष बताते हुए प्रभु श्रीकृष्ण कहते हैं कि सदैव मेरा चिन्तन सगुण साकार रूप में करते रहो। किस प्रकार चिन्तन करो? **अनन्यचेताः** - अनन्य चित्त होकर करो। जिस व्यक्ति का, जिस भक्त का, जिस साधक का चित्त दूसरी तरफ नहीं जाता, केवल मुझमें लगा रहता है, वह है अनन्यचेताः। वह कैसे लगा रहता है? यहाँ वे दो शब्दों का प्रयोग करते हैं – नित्यशः और सततं। अर्थात् मेरा स्मरण नित्यशः और सतत करता रहता है। तो सतत और नित्य में क्या कोई अन्तर है? अन्तर है। सतत का अर्थ हुआ लगातार – तैलधारावत्। उस धारा को टूटना नहीं चाहिए। यह जो लगातार मैं चिन्तन करता हूँ, चार घण्टे के लिए करूँ, चाहे एक घण्टे के लिए करूँ। एक दिन के लिए करूँ, चाहे एक महीने के लिए करूँ। पर जितना करूँ, सतत करूँ और नित्य करूँ। ऐसा नहीं कि आज मैंने किया, तो दो दिन छुट्टी ले ली, तीसरे दिन किया, फिर चौथे दिन छुट्टी ले ली। तो उसको कहते हैं यह नित्य चिन्तन नहीं हुआ। नित्य का मतलब हरदम होना चाहिए, हर काल होना चाहिए। सतत का मतलब होता है अखण्ड, अटूट। भगवान के स्मरण का जो प्रवाह है, वह भक्तियोगी भी हो सकता है। कहते हैं - **तस्याहं सुलभः पार्थ** – हे पार्थ, मैं उसके लिए सुलभ हूँ। तूने यह कठिनाई बतलाई कि कैसे भ्रूमध्य में जाकर प्राणों को आविष्ट करें या कैसे प्राणों का नियमन सहस्त्रार में जाकर करें, तो मैं तुम्हें सुलभ रास्ता बताता हूँ। अनन्यचित्त से मेरा स्मरण कर, नित्य कर, सतत कर, तब तू देखेगा कि मैं तेरे लिए सुलभ हो गया हूँ। इस प्रकार तेरा मन नित्य युक्त बना रहेगा। फिर १५वें श्लोक में कहते हैं –

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।।१५।।

– माम् (मुझको) उपेत्य (प्राप्त होकर) परमां (परम) संसिद्धिं (सिद्धि को) गताः (प्राप्त) महात्मानः (महात्मा लोग) दुःखालयम् (दुखों के घर) अशाश्वतम् (क्षणभंगुर) पुनर्जन्म (पुनर्जन्म को) न (नहीं) आप्नुवन्ति (प्राप्त होते)।

– "मुझको प्राप्त होकर (मोक्ष रूप) परमसिद्धि को प्राप्त हुए महात्मागण, अनित्य दुखालय रूप पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते।"

भगवान को पाकर क्या होगा? ये जो तीन रूप हैं,

पहला भगवान का सगुण निराकार रूप, दूसरा निर्गुण निराकार रूप और तीसरा सगुण साकार रूप। इसमें सगुण निराकार में बताया – परम दिव्य पुरुष की, निर्गुण निराकार में परम गति की और सगुण साकार में राम, कृष्ण, बुद्ध, रामकृष्ण, चैतन्यमहाप्रभु, ये जितने भी अवतारी महापुरुष हैं, जिनके प्रति हमारी इष्ट-निष्ठा है, उनकी प्राप्ति होगी। भगवान कहते हैं, **मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयम् अशाश्वतं नाप्नुवन्ति** – मुझे प्राप्त कर दुखों का घर तथा क्षणभंगुर पुनर्जन्म की प्राप्ति नहीं होगी। यह पुनर्जन्म कैसा है? यह **दुःखालय** – दुखों का घर है। अरे, जन्म लिया, तो मनुष्य के जीवन में दुख ही दुख भरा होता है। फिर अशाश्वत है। इस जीवन का क्या ठिकाना है? यह क्षणभंगुर है। पर जो भगवान को पा लेता है, उसे दुख रहता नहीं है। वही शाश्वत जीवन होता है। मरने के बाद होगा, ऐसी बात नहीं है। इसी जीवन में यदि हमने प्रभु के चरणों का स्पर्श कर लिया, तो हमारा जीवन शाश्वत बन जाएगा। यह शरीर अशाश्वत है, परन्तु हमारे भीतर जो आत्म-चैतन्य है, वह तो शाश्वत है। अभी तुम अपने आपको शरीर के साथ युक्त करके शाश्वत समझते हो, पर भगवान के चरणों का स्पर्श हो जाने पर यह अनुभूति होती है कि मैं तो वही हूँ, मैं नित्य हूँ, मैं शाश्वत हूँ। यह बोध इसी जन्म में होता है। ऐसा नहीं कि यह बोध मरने के बाद होगा। यहाँ पर अर्थ ऐसा नहीं है। इसी जन्म में हम क्या बोध करेंगे? इसी जन्म में अमरत्व का बोध होगा। क्या ऐसे व्यक्ति के जीवन में दुख नहीं आएँगे? उसके शरीर में कोई रोग-राई नहीं होगी? जो भगवान को पा लेता है, उसके शरीर में भी रोग-राई होगी। उसको दुख सताएँगे। सताएँगे का मतलब उसके जीवन में दुख आएँगे, पर ये दुख उसके मन पर कोई प्रभाव नहीं डाल पाएँगे। अभी रोग होता है, तो मानो मैं मर-सा जाता हूँ। अभी दुख मेरे जीवन में आता है, तो मैं व्याकुल हो उठता हूँ, लगता है कि मैं मर जाऊँगा। पर यदि मैं प्रभु के चरणों का स्पर्श प्राप्त कर लूँ। तो फिर दुख आये भी तो मेरा चित्त उस अवस्था में सम बना रहता है। तब मुझे लगता रहता है कि यह जीवन तो अशाश्वत है, पर मैं ईश्वर के साथ नित्ययुक्त हूँ। इस शाश्वतता का बोध मैं करता रहता हूँ। अशाश्वतता मुझे भय नहीं दे पाती। मृत्यु मुझे डरा नहीं पाती। हमारी मनःस्थिति ऐसी हो जाती है। कई लोग इसका ऐसा वर्णन कर देते हैं कि मरने के बाद ऐसी स्थिति होती है। मरने के बाद क्या होता है, यह किसने देखा? जिसने इसी जीवन में ईश्वर को प्राप्त कर लिया, वही यथार्थ में जीवन का परम सुख प्राप्त करता है, शान्ति का अधिकारी बनता है तथा उसका पुनर्जन्म नहीं होता। पुनर्जन्म से यही समझें कि उसका आवागमन का चक्कर कट जाता है तथा भगवान के चरणों का स्पर्श प्राप्त करके मन शान्त होकर प्रभु में निविष्ट हो जाता है।

महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द जी महाराज) श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग लीलापार्षद थे। वे बाद में रामकृष्ण मठ एवं मिशन के द्वितीय महाध्यक्ष बने। उनका मन सदा प्रभु के चरणों में निविष्ट रहा करता था। वे दमे की बीमारी से ग्रस्त थे। रात में सो ही नहीं पाते थे। तकिये को हृदय से लगाकर बैठे रहते थे। जब किसी ने आकर उनसे पूछा कि महाराज आपका स्वास्थ्य कैसा है, आप कैसे हैं? तो वे कहते कि मैं बहुत आनन्द में हूँ। महाराज, रात में नींद हुई? अच्छा, तुम शरीर की बात पूछते हो ! हाँ, शरीर को दुख है, पर मैं तो आनन्द में हूँ। यह अद्भुत स्थिति है। वे हरदम कहा करते थे –'दुख जाने देह जाने, मन तू आनन्दे थाक्'। अर्थात् यह जो दुख है न, वह अपने को समझे और देह दुख को समझे, दोनों एक-दूसरे को आपस में समझ लें, पर मन तू तो सदा आनन्द में ही रह। अरे मन ! तुझे झमेले में पड़ने की क्या आवश्यकता है? मानो उनका यह भाव था। तो यही यहाँ पर कहा गया है कि ऐसे लोग ही महात्मा हैं, जो **संसिद्धिं परमां गताः** – परम सिद्धि को प्राप्त हो गये। एक सिद्धाई वह है, जहाँ चमत्कार नजर आते हैं और एक सिद्धाई वह है जहाँ हम मन पर नियंत्रण कर लेते हैं। श्रीरामकृष्ण के जीवन में आता है न। वे कहते थे – एक ने बहुत तपस्या की। उस तपस्या के फलस्वरूप उसने सिद्धाई प्राप्त की। उसके बाद उसने आकर अपने गुरु से कहा कि महाराज मैं बहुत साल तक आपके पास रहा। परन्तु जब

शेष भाग पृष्ठ ३३६ पर

भारतीय चिन्तन की देव-दृष्टि : एक ऐतिहासिक पर्यालोचन

राजलक्ष्मी वर्मा

प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

(गतांक से आगे)

इस वैचारिक पृष्ठभूमि में ही ईश्वरविषयक अवधारणा समझनी चाहिए। सगुण और निर्गुण एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं, एक ही हैं। सगुण ईश्वर निर्गुण ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। वस्तुत: मनुष्य के मन, बुद्धि और वाणी का विषय बनते ही निर्गुण स्वत: सगुण हो जाता है। निर्गुण-निराकार रूप में परमात्मा ध्यान का विषय भी नहीं बन सकता। परम सत्य आकारहीन है, इसीलिए कोई भी आकार ले सकता है, उसका कोई नाम-रूप नहीं है, इसलिए अनेक नाम और रूप उसके हो सकते हैं। हिन्दू धर्म में ईश्वर के जो इतने रूप हैं, इतने अवतार और इतनी अभिव्यक्तियाँ हैं, उनसे उसके एकत्व और अद्वयता में कोई बाधा नहीं पड़ती। हिन्दू मतानुयायियों को यह भ्रम कभी नहीं होता कि ईश्वर अनेक हैं। उन्हें ज्ञात है कि उस एक ही ईश्वर के बहुत सारे रूप हैं, हो सकते हैं और जो रूप उन्हें प्रिय है, उसे वे इष्ट के रूप में चुन लेते हैं। ईश्वर को अनेक रूपों में देखने का अभ्यस्त होने के कारण ही वह अन्य धर्मों में स्वीकृत ईश्वर की अवधारणा सहज रूप से स्वीकार कर पाता है, उसे कोई कठिनाई नहीं लगती। एकत्व में बहुत्व और बहुत्व में एकत्व का प्रत्यक्ष करने की वृत्ति के ठीक समानान्तर भारतीय चिन्तन की एक और प्रवृत्ति दिखाई देती है, वह प्रवृत्ति है बौद्धिक स्वातन्त्र्य की।

भारतीय संस्कृति ने मनुष्य के आचार-व्यवहार को बहुत बाँधा है; धर्म और अर्थ-कामरूपी पुरुषार्थों को स्मृति-संहिताओं ने बार-बार परिभाषित किया है, करणीय-अकरणीय की लम्बी-लम्बी सूचियाँ हैं, किन्तु परम पुरुषार्थ मोक्ष की उपलब्धि के लिए अपना मार्ग चुनने की उसे अद्भुत स्वतंत्रता है। शरीर, इन्द्रिय, मन को बाँध कर भी मनुष्य की बुद्धि को सत्य के अन्वेषण के लिए निश्शंक, निर्द्वन्द्व और निर्बन्ध छोड़ दिया गया है और जिन्हें बाँधा है, उन्हें भी शायद इसीलिए बाँधा है कि बुद्धि अपना कलुष-भार छोड़कर पवित्र और स्फूर्तिमय होकर चेतना की उच्च भूमियों पर अग्रसर हो सके।

भारतीय मनीषा इस बात का संज्ञान लेती है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न है। सबकी रुचि, स्वभाव, सामर्थ्य और आध्यात्मिक क्षमताएँ अलग-अलग होती हैं; एक का मार्ग सबका मार्ग नहीं हो सकता, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अपनी प्रकृति और अपनी क्षमता के अनुकूल मार्ग चुन सके। **ईश्वर के जिस रूप के साथ उसका हृदयसंवाद हो सके, वही उसका 'इष्ट' है और जिसके प्रति आत्मसमर्पण हो सके वही उसका 'गुरु' है।** सनातन धर्म के अन्तर्गत ईश्वर की इतनी परिभाषाएँ, इतने रूप, इतने साधनामार्ग और पूजा-पद्धतियाँ सत्य के साक्षात्कार के व्यक्तिगत प्रयोगों से ही निष्पन्न हुए हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में कोई भी अन्य धर्म व्यक्ति की 'निजता' को इतनी मान्यता नहीं देता। ऐसा बौद्धिक स्वातन्त्र्य सनातन धर्म की अपनी विशेषता है।

भारतीय चिन्तन में ईश्वर 'स्वयंभू' ही नहीं 'स्वराट्' भी है, वह 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' है, उसके अतिरिक्त और उसके समान कोई दूसरा नहीं है। सामी मूल के धर्मों में ईश्वर को चुनौती देनेवाले 'सेटन' या 'शैतान' की भाँति इसका कोई प्रतिपक्षी भी नहीं है। ईश्वर जीव और प्रकृति या माया के बीच एक त्रिकोण-सा बनता दिखाई अवश्य देता है, किन्तु वस्तुत: है नहीं। ईश्वर और जीव तो एक ही सर्वव्यापक चैतन्य के दो रूप हैं, माया भी ईश्वर के स्वरूप या सत्ता से बाहर या स्वतंत्र नहीं है। माया त्रिगुणात्मिका प्रकृति है जिससे इस भौतिक जगत का निर्माण होता है। विभिन्न दर्शनों ने ईश्वर-माया-सम्बन्ध को अपने-अपने सम्प्रदायों की मान्यताओं के अनुसार व्याख्यायित किया है, किन्तु उसे ब्रह्म के समानान्तर दूसरी सत्ता स्वीकार नहीं किया। कोई उसे ब्रह्म की 'उपाधि' स्वीकार करता है, कोई उसे सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वर की 'कार्यकरणात्मिका' शक्ति मानता है, जो उसकी आज्ञा से इस नामरूपात्मक जगत की सृष्टि

करती है। शक्ति सदैव शक्तिमान से अभिन्न होती है, दोनों में 'तादात्म्य' सम्बन्ध होता है, इसलिए ईश्वर की शक्तिभूता प्रकृति या माया के द्वारा रचित संसार का कर्तृत्व ईश्वर का ही माना जाता है। वैष्णव दार्शनिक माया को कभी ईश्वर की शक्ति, कभी प्रकार, कभी विशेषण तो कभी अंशरूप मानते हैं। स्पष्ट है कि प्रकार 'प्रकारी' का ही होगा, विशेषण 'विशेष्य' के बिना व्यर्थ है, अंश 'अंशी' का ही होता है, और शक्ति तो 'शक्तिमान' में ही रहती है, अत: प्रकृति या माया ब्रह्म के स्वरूप और सत्ता का ही विस्तार या अभिव्यक्ति है। केवल सांख्य दर्शन प्रकृति को 'पुरुष' या आत्मा से सर्वथा भिन्न, स्वतंत्र और नित्य सत्ता स्वीकार करता है। सम्भवत: इसी कारण शंकराचार्यजी उसे 'अवैदिक' घोषित करने में तनिक भी विलम्ब नहीं करते। यह स्थिति भी परवर्ती सांख्य में है, जो ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करता, हालाँकि 'आत्मा' की सत्ता तो स्वीकार करता ही है, जिसका सर्वथा शुद्ध और उदात्त रूप ही 'ईश्वर' है। महाभारत और श्रीमद्भगवद्गीता में जो सांख्य-सिद्धान्त प्राप्त होता है, उसमें माया को 'पुरुषोत्तम' ईश्वर की शक्ति ही स्वीकार किया गया है। निरीश्वरवादी सांख्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति एक 'जड़ तत्त्व' है, जो स्वत: कुछ करने में अक्षम है। 'पुरुष' या आत्मा की सन्निधि या 'छायापत्ति' से वह चैतन्य प्राप्त करती है और तब 'चेतनवती-सी' होकर जगत की सृष्टि करती है। जगत की सृष्टि में भी 'निमित्त कारण' आत्मा ही है, क्योंकि वही चैतन्य रूप है। इस प्रकार घूम-फिरकर 'ईश्वर और उसकी माया' जैसी स्थिति बन जाती है। नास्तिक सम्प्रदाय जैन और बौद्ध मत पंचभौतिक जगत के कारणरूप में त्रिगुणात्मिका प्रकृति या माया को स्वीकार करते हैं, जो एक अनित्य और सापेक्ष तत्त्व है। सापेक्ष कुछ भी स्वीकार करने पर 'निरपेक्ष' की सत्ता अपने आप सिद्ध हो जाती है, उसे शब्दत: कुछ कहा जाय या न कहा जाय। समस्त सापेक्ष और परिवर्तनशील दृश्यमान और अदृश्य जगत की जो अधिष्ठानभूत निरपेक्ष सत्ता है, वही ब्रह्म या ईश्वर है, प्रकृति जिसकी वशवर्तिनी है।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ ईश्वर किसी सातवें आसमान पर बैठा कोई न्यायाधीश नहीं है, जो हाथ में तराजू लिये लोगों के अच्छे-बुरे कर्मों का हिसाब कर रहा है। यह तो प्रकृति के जगत् की एक व्यवस्था है, जो स्वत:गतिमान है, 'कर्मसिद्धान्त' इसका आधार है। कारण-कार्य सम्बन्ध के अनुसार प्रत्येक क्रिया की एक प्रतिक्रिया होती है, जो की गयी क्रिया के अनुरूप होती है। अच्छे कार्य का परिणाम अच्छा और बुरे कार्य का परिणाम बुरा होता है। शारीरकसूत्रों पर भाष्य करते हुए, 'वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गनिरास' के अन्तर्गत, ईश्वर पर विषम सृष्टि रचने और प्राणियों को दुख देने के कारण अत्यन्त निष्ठुर होने के आरोप का निराकरण करने के प्रसंग में शंकराचार्य लिखते हैं कि जैसे मेघ निरपेक्षभाव से सारे खेत पर एक जैसा ही जल बरसाता है; फसल किसकी और कैसी होगी, यह तो बीज की प्रकृति और गुणवत्ता पर निर्भर है, वैसे ही ईश्वर से कर्तृत्वशक्ति प्राप्त कर व्यक्ति को कर्मानुसार फल मिलेगा। यह एक नैतिक व्यवस्था है, जिसे 'ऋत्' कहते हैं। यह ईश्वर-निरपेक्ष व्यवस्था है। हम जब कहते हैं 'ईश्वर ने सुख दिया, या दुख दिया' तो ईश्वर और प्रकृति तथा उसके नियमों को एक या अभिन्न मान कर ऐसा कहते हैं। समझने की बात यह है कि व्यवस्था और व्यवस्था का नियामक एक नहीं होता, यह तो ऐसा ही है कि खेल में 'आउट' हो जाने पर खिलाड़ी खेल के नियम बनाने वालों को दोष दे।

अन्तिम महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ईश्वर की सर्वरूपता की जैसी प्रतिष्ठा भारतीय चिन्तन में हुई है, शायद वैसी और कहीं नहीं हुई। भारतीय प्रज्ञा की सर्वोच्च उपलब्धि 'अखण्ड ऐक्य' का साक्षात्कार है। इस चराचर सृष्टि में 'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त' – ब्रह्म से लेकर तिनके तक में एक ही सत्य स्फुरित हो रहा है। तैत्तिरीयोपनिषद् की दूसरी वल्ली के छठे अनुवाक् में इस तथ्य का सुन्दर विवेचन है – **''सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किं च। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति।''** इस अंश का भाव यह है –'उस परमेश्वर ने विचार किया, मैं प्रकट होऊँ और अनेक नामरूप धारण कर बहुत हो जाऊँ। उसने तप किया अर्थात् अपने संकल्प का विस्तार किया और इस जड़-चेतनमय विश्व की रचना कर स्वयं उसमें प्रविष्ट हो गया। इस प्रकार विश्व की रचना कर उसमें अन्तर्यामी रूप से प्रवेश कर जो मूर्त है, जो अमूर्त है, जो वाच्य है, अवाच्य है, जो चेतन है, जो अचेतन है, जो सच है, जो झूठ है, वह सब कुछ सत्यस्वरूप परमात्मा ही हो

गया। ज्ञानी कहते हैं, जो कुछ दृश्य और अनुभवगम्य है, वह सब परमात्मा ही है।'

शास्त्र कहते हैं कि वह परमात्मा 'अस्तिभातिप्रियत्वेन' इस सृष्टि में व्याप्त है। यह सत्स्वरूप है, सत् है इसलिए चैतन्यरूप है, चैतन्य है, इसलिए आनन्दरूप है –'सच्चिदानन्द' है। संसार में जो कुछ अस्तित्वशाली है, उसकी सत्ता से ही अस्तित्ववान् है, जहाँ चेतना है, वह उसकी ही चेतना का प्रतिफलन है और जहाँ आनन्द है, वह उसके आनन्द की ही छाया है। परमात्मा ही सृष्टि के कर्तृत्व, पालन, नियमन और संहरण की दृष्टि से 'ईश्वर' कहलाता है। ईश्वर का अर्थ है, जो शासन करे, सब पर जिसका प्रभाव हो। जहाँ ईश्वर इस प्रकार सर्वव्यापक और सर्वरूप हो, वहाँ एक अंश का ग्रहण और एक अंश का त्याग सम्भव नहीं है। हम यह नहीं कह सकते कि शुभ, सुन्दर और मंगलमय ही ईश्वर है और अशुभ असुन्दर और अमंगल ईश्वर का रूप नहीं है। ईश्वर को स्वीकार करना है, तो उसे उसकी पूर्णता में ही स्वीकार करना होगा। यदि सर्वत्र एक ही तत्त्व की अभिव्यक्ति है, तो जो शुभ है, सुन्दर है, रमणीय है, अमृतस्वरूप है, वही अशुभ, असुन्दर, अनाकर्षक और विषतुल्य भी है। जो जीवन है, वही मृत्यु है और जो सृष्टिरूप है, वही विनाशरूप भी है।

इस सर्वव्यापक चेतना को हमने कितने ही नाम-रूप और व्यक्तित्व दे रखे हैं, हर देवमूर्त्ति उस सर्वरूप ईश्वर के अलग-अलग पक्षों को दर्शाती है। हम यदि राम की सौम्यता और कृष्ण की कमनीयता में ईश्वर को देखते हैं, तो रणक्षेत्र में क्रोधोन्मत्त हो रक्तपान करती महाकाली के रूप में करुणामयी मातृमूर्ति के दर्शन भी करते हैं। स्पष्ट है कि जो सर्वदा सर्वमय है, वह 'विरुद्धधर्माश्रय' भी होगा। उसमें एक साथ, एक ही समय में अनेक धर्मों की, परस्पर विपरीत धर्मों की भी, स्थिति रहेगी। वैष्णवों का तो यह परमप्रिय सिद्धान्त है। वैष्णव दार्शनिक कहते हैं कि नाम-रूप-देश-काल से बँधी परिच्छिन्न लौकिक सृष्टि में भले ही यह सम्भव न हो, किन्तु 'अचिन्त्यानन्तशक्तिमान्' 'विश्वात्मा' 'भगवान्' का तो व्यक्तित्व ही ऐसा है कि उनमें विरुद्ध धर्मों की भी सहस्थिति सर्वथा सम्भव है, यही तो उनका ऐश्वर्य है !

इस बात की स्वीकृति सभी देवमूर्तियों में दिखलायी देती है। भगवान् शिव जो शरीर पर चिताभस्म का अंगराग लगाये हुए हैं, कण्ठ में विष धारण करते हैं, मृत्यु के प्रतीक सर्पों के आभूषण पहनते हैं, हमारी दृष्टि में वे साक्षात् 'मंगलमूर्ति' हैं, अमरत्व का वरदान देने वाले हैं। सिद्ध पुरुष सहस्रारचक्र में अनाहत नाद के गुंजार में जिस आत्मलीन शिव का साक्षात्कार करते हैं, वे ही संगीत के प्रथम पंचरागों के गायक और कामशास्त्र के आदि आचार्य स्वीकृत हैं। जो श्रीकृष्ण वृन्दावन में 'महारास' के प्रणय-पूरित नायक हैं, वे ही कुरुक्षेत्र में गीता के उपदेशक महान योगी 'विराट् पुरुष' हैं।

ईश्वर की सर्वरूपता का साक्षात्कार भारतीय चिन्तन की विशिष्ट उपलब्धि है। छोटी-छोटी मान्यताओं, परम्पराओं और लोकजीवन के विश्वासों में यह बात झलकती है। दशहरे के दिन प्रातःकाल 'नीलकण्ठ' भगवान आशुतोष का प्रतीक समझ 'नीलकण्ठ' पक्षी के दर्शन किये जाते हैं। नागपंचमी के दिन विषधर सर्प को जीवन को आवेष्टित कर स्थित 'महाकाल' का रूप समझकर उसकी पूजा की जाती है। वटसावित्री व्रत के दिन सौभाग्यवती स्त्रियाँ वट और अश्वत्थ जैसे दीर्घजीवी वृक्षों में ईश्वर की चिरन्तनता के दर्शन कर उनकी परिक्रमा करती हैं और अचल अहिवात का वरदान माँगती हैं। नदियाँ तो मातृमूर्ति हैं ही, हमारा पुराण साहित्य विभिन्न पवित्र नदियों की कथाओं और चमत्कार-गाथाओं से भरा पड़ा है, विशेषरूप से भगवती गंगा की महिमा से। यह सब कोरा अन्धविश्वास या अशिक्षाजनित रूढ़ियाँ नहीं हैं; यह सर्वत्र उस 'महाचैतन्य' का अभिज्ञान है। भारत की संस्कृति समुद्र-नदियों, पशु-पक्षियों, वृक्ष-वनस्पतियों और शिला-पर्वतों में परमात्मा की दिव्यता और विभूतियों का दर्शन करती है। महाकवि कालिदास कहते हैं – '**अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः**'। हिमालय को वे 'देवतात्मा' कहकर सम्बोधित करते हैं। वह विराट पुरुष की विराट अभिव्यक्ति है। उसके हिममण्डित शुभ्र सौन्दर्य में परमात्मा की दिव्यता की छवि है।

विश्व की प्रत्येक संस्कृति अपनी जीवनदृष्टि के अनुसार मानव-जीवन की सार्थकता का कोई-न-कोई निकष स्थिर करती है, साथ ही इस दृश्य जगत के पीछे किसी अदृश्य सत्ता या रहस्य का अनुसन्धान भी करती है। निष्कर्ष भिन्न हो सकते हैं, किन्तु प्रयत्न की दिशा समान ही होती है। भारतीय संस्कृति जीवन में दिखने वाले 'द्वन्द्व' को जीवन का अन्तिम सत्य स्वीकार नहीं करती, क्योंकि 'द्वन्द्व' अस्थिर और परिवर्तनशील है। इस द्वन्द्व की सत्ता को धारण करने वाला कोई और भी है, जो एक है, एकरस है, एकरूप

है। वह इस सृष्टि को किसी अचेतन तत्त्व का संकल्पहीन स्वच्छन्द परिणाम नहीं मानती, वह सृष्टि में विकास की एक सुनिश्चित दिशा देखती है, लय-छन्द गति-यति देखती है, जो किसी सर्वव्यापक चेतन शक्ति का संकल्प प्रतीत होती है। इस अतीन्द्रिय सत्ता की उपस्थिति के संकेत हमें जीवन में कई बार अप्रत्याशित रूप से मिलते हैं। इस अतीन्द्रिय सत्ता का अभिज्ञान और उसके साथ समस्त सृष्टि और अपने सम्बन्ध का अनुसन्धान ही भारतीय संस्कृति के अनुसार मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।

ऋषियों और चिन्तकों ने इस अतीन्द्रिय सत्ता की पहचान एक विराट चेतना के रूप में की है। यह जीवन उसकी अभिव्यक्ति है। समस्त जड़-चेतन संसार में यह व्याप्त है। जड़ और चेतन में अन्तर बस इतना ही है कि जड़ में चेतना का प्रकाश अपेक्षाकृत कम है। यह दिव्य चेतना, जिसे विभिन्न सन्दर्भों में ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा, जीवात्मा तथा अन्य अनेक नामों से सम्बोधित किया गया, चराचर सृष्टि की सभी प्राणियों की एकता का आधार है। भारतीय संस्कृति के जो आदर्श हैं –'**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः**'; '**उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्**'; '**भवतु विश्वमेकनीडम्**' आदि, वे सबकी आधारभूत एकता की पहचान के बिना सम्भव ही नहीं हैं। इसलिए भारतीय चिन्तन 'समानता' की नहीं 'अभिन्नता' की बात कहता है। इस आन्तरिक एकता की अनुभूति और व्यवहार में इस अनुभूति का प्रकाशन ही मानव-जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। वास्तविक अर्थ में यही 'अभ्युदय' है, यही 'नि:श्रेयस्' है, यही धर्म का लक्ष्य है, यही भारतीय संस्कृति की देव-दृष्टि है।

इस देश के भावुक हृदय ने जिस ईश्वर को नाना वेश, नाना रूपों में किसी सुनहले स्वप्न की भाँति अपनी आँखों में सजा रखा है, उस स्वप्न का सत्य बस यही है, जो सहस्राब्दियों का अन्तराल पार कर आज भी किसी ऋषि की तप:पूत वाणी में अमन्द अकुण्ठित अनवरत गूँज रहा है –

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।
नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्ष-
स्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे
यतो जातानि भुवनानि विश्वा।। श्वेताश्वतर, ४.३,४

प्रभु, आप ही स्त्री हैं, आप ही पुरुष हैं, आप ही कुमार और कुमारी हैं। आप ही वृद्ध के रूप में दण्ड के सहारे चलते हैं, विराट होकर आप ही विश्वरूप हो जाते हैं। आप ही वह नीलवर्णी पतंग हैं, आप ही हरे रंग के लाल आँखों वाले पक्षी हैं, आप ही चमकती विद्युत्-रेखाओं से सजे मेघ हैं, बदलती हुई ऋतुएँ भी आप हैं। पृथिवी को घेरे सप्त-समुद्र भी आप ही हैं, आप ही प्रकृति और प्राणिसमूह के स्वामी हैं। आप से ही ये सारे लोक उत्पन्न हुए हैं। आप ही व्यापक होकर इस सारी सृष्टि में समाये हैं। हे प्रभु ! सब ओर आप ही हैं, प्रभु, बस आप ही हैं, आप ही हैं। **(समाप्त)**

जाना होगा ओढ़ कफन

डॉ. अमृत सिंह

चल उड़ चल पंछी दूर गगन,
भर गया इस दुनिया से मन ।।

जिस डाल पर तेरा बसेरा है, जहाँ होता रोज सवेरा है ।
हुआ पुराना तेरा ठिकाना, तेरी डाल के दिन गये छिन ।।
भूलो मत ये देश विराना, यहाँ न किसी का सदा ठिकाना।
आते जितने जीव जगत में, रहते केवल गिनती के दिन ।।
ओ परदेशी पंछी तेरा, खत्म हुआ अब जीवन फेरा ।
मोह न कर तू यहाँ किसी का, जाती बिरिया छूटे प्रियजन ।।
झूठा हे जग झूठी माया, माया ने सबको भरमाया ।
मायावी इस जग में बंदे, कब तू भटकायेगा मन ।।
आया था तू दो दिन रहने, भूला देख सुनहरे सपने ।
क्षणभंगुर सपनों की दुनिया, क्षण में जाते टूट सपन ।।
तू न किसी का, न कोई तेरा, कहते कहते तेरा-मेरा ।
टूट सका न भ्रम का घेरा, बीते अब तक युग अनगिन ।।
ये दुनिया आनी जानी है, ज्यों बहता दरिया पानी है ।
सदा रहा है, सदा रहेगा, इस दुनिया का यही चलन ।।
भले बना ले महल अटारी, भले जीत ले दुनिया सारी ।
एक दिन तुझको जाना होगा, इस जग से प्यारे ओढ़ कफन ।।

(पारख प्रकाश, २०१७, अंक-३)

स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त

(स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में दृष्टान्त आदि के रूप में बहुत-सी कहानियों तथा दृष्टान्तों का वर्णन किया है, जो १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' तथा अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है, जिसका संकलन स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

१००. दूसरों की निन्दा मत करो

दूसरों का मूल्यांकन करते समय हम सदा एक भूल कर बैठते हैं; हममें सदा यही सोचने की प्रवृत्ति होती है कि हमारी छोटी-सी मानसिक दुनिया के परे कुछ है ही नहीं; हमारी अपनी नीति तथा सदाचार की मान्यताएँ, हमारी अपनी कर्तव्य-विषयक धारणा, हमारे अपने उपयोगिता-सम्बन्धी विचार – केवल ये ही अपनाने के योग्य हैं।

कुछ दिनों पूर्व मैं यूरोप जा रहा था। मार्सेल्स से होकर जाते समय मैंने देखा कि वहाँ साँड़ों की लड़ाई का आयोजन किया जा रहा है। उसे देखकर जलयान में बैठे सारे अंग्रेज बड़ी नाराजगी दिखाते हुए उस आयोजन को 'बड़ा क्रूरतापूर्ण' कहकर उसकी निन्दा करते हुए अनाप-शनाप बकने लगे। जब मैं इंग्लैंड पहुँचा, तो मैंने वहाँ के इनामी मुक्केबाजों के विषय में सुना। वे लोग पेरिस गए थे और फ्रांसीसियों ने उन्हें ठुकराकर बाहर निकाल दिया था; क्योंकि फ्रांसीसी लोग मुक्केबाजी को क्रूरता समझते हैं।

जब मैं विभिन्न देशों में इसी तरह की बातें सुनता हूँ, तो मुझे ईसा की उस अद्भुत उक्ति का तात्पर्य समझ में आ जाता है। उन्होंने कहा था, "दूसरों का मूल्यांकन मत करो, ताकि तुम्हारा भी मूल्यांकन न किया जाय।" हम जितना ही अधिक सीखते हैं, उतना ही अधिक हमारी समझ में आने लगता है कि हम कितने अज्ञानी हैं और मनुष्य का मन कितना बहुमुखी और बहुपक्षीय है।

जब मैं बालक था, तो मैं अपने देशवासियों की कठोर तपस्याओं की निन्दा किया करता था। हमारे देश के बड़े-बड़े आचार्यों ने उनकी निन्दा की है; इतना ही नहीं, दुनिया के श्रेष्ठ महापुरुष भगवान बुद्ध ने भी उनकी आलोचना की है। परन्तु ज्यों-ज्यों मेरी आयु बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों मैं देखता हूँ कि उनकी इस प्रकार निन्दा करने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। उनकी अनुचित कठोरताओं के बावजूद कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि काश, यदि उनकी सहनशीलता का एक छोटा-सा अंश भी मुझमें आ जाता! मुझे अक्सर लगता है कि मैं जो मूल्यांकन और निन्दा किया करता हूँ, वह इसलिए नहीं कि मुझे कठोरता से अरुचि है, बल्कि इसलिए कि मैं कायर हूँ और मुझमें वैसा करने की हिम्मत नहीं है। (३/१११-१२)

१०१. कर्तव्य पालन के नाम पर

कलकत्ते के एक युवक की शादी गंगा नदी से बहुत दूर के एक गाँव में हुई थी। एक बार वह अपनी ससुराल गया। रात के भोजन के समय उसने देखा कि लोग नगाड़े आदि के साथ उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उसकी सास ने अनुरोध किया कि वह भोजन के लिये बैठने के पूर्व थोड़ा-सा दूध पी ले।

जमाई ने सोचा कि यह शायद कोई स्थानीय प्रथा है, अत: उसे मान लेना ही अच्छा होगा। परन्तु उसने ज्योंही दूध पीना शुरू किया, त्योंही चारों ओर से नगाड़े बजने लगे। उसकी सास की आँखें आनन्द से छलछला आयीं और उसने दामाद के सिर पर हाथ रखकर उसे आशीर्वाद देते हुए कहा, "बेटा, आज तुमने सचमुच ही एक पुत्र का कर्तव्य पूरा किया है। देखो, तुम गंगाजी के किनारे रहते हो, इसलिये तुम्हारे पेट में गंगाजी का जल है और इस दूध में तुम्हारे स्वर्गीय ससुरजी के हड्डियों का पाउडर मिला हुआ था। अत: तुम्हारे इस कार्य से उनकी अस्थियों को गंगाजी की प्राप्ति हो गयी और उनकी अन्तरात्मा को उसका सारा पुण्य प्राप्त हो गया।" (CW, 7:309-310)

१०२. भिक्षुक द्वारा मार्ग पूछना

एक आलसी भिखमंगा सड़क पर चलते समय एक वृद्ध को अपने मकान के द्वार पर बैठा देखकर रुक गया और उससे पूछने लगा, 'अमुक ग्राम कितना दूर है?' वृद्ध चुप बैठा रहा। भिखमंगे ने कई बार अपना प्रश्न दुहराया, परन्तु उसे कोई उत्तर नहीं मिला। अन्त में जब वह उकताकर लौटने लगा, तब उस वृद्ध ने खड़े होकर कहा, 'वह ग्राम यहाँ से एक मील दूर है।' भिखमंगा कहने लगा, 'मैंने तुमसे कितनी बार पूछा था, परन्तु तुमने पहले क्यों नहीं बताया?' वृद्ध ने उत्तर दिया, 'इसलिये कि पहले तुम्हारा जाने का संकल्प पक्का नहीं दिखाई दे रहा था, तुम दुविधा में प्रतीत हो रहे थे, परन्तु अब तुम उत्साहपूर्वक आगे बढ़ रहे हो, इसीलिए उत्तर पाने के अधिकारी भी हो गये हो!'

काम आरम्भ करो, बाकी सब कुछ आप ही आप हो जायेगा। (३/३४७)

भारत की ऋषि परम्परा (१९)

स्वामी सत्यमयानन्द

दक्ष प्रजापति

दक्ष अपने नाम के अनुसार दक्ष अर्थात् निपुण थे। वे ब्रह्मा के पुत्र एवं प्रजापति थे। महाभारत में उनका वर्णन, शान्तचित्त, महान तपस्वी और प्रसिद्ध ऋषि के रूप में किया गया है। वे ब्रह्मा के दाएँ अंगुठे से उत्पन्न हुए थे और उनकी पत्नी वीरणी ब्रह्मा के बाएँ अंगुठे से उत्पन्न हुई थीं। दक्ष का सिर बकरे का होने के कारण वे सहज पहचाने जाते हैं। उन्हें बकरे का सिर कैसे मिला, इसकी कथा लगभग सभी पुराणों में थोड़ी-बहुत भिन्नता के साथ प्राप्त होती है।

तैत्तिरीय संहिता में इस कथा का मूल स्रोत प्राप्त होता है। दक्ष ने एक यज्ञ का आयोजन किया। उनकी एक पुत्री का नाम सती था । दक्ष ने सभी देवताओं को आमन्त्रित किया, किन्तु उन्होंने जानबूझ कर अपने दामाद देवाधिदेव शिव को नहीं बुलाया, किन्तु उनकी पत्नी सती उस यज्ञ में गईं। आशुतोष शिव को यह अपमान बुरा नहीं लगा, किन्तु जब प्रजापति दक्ष ने शिव के बारे में अनुचित कहकर उनका और सती का अपमान किया, तो सती ने आत्मदाह कर शरीर त्याग दिया। शिव ने अपने अनुचरों के साथ वहाँ सब कुछ विध्वंस कर दिया और वहाँ उपस्थित देवताओं, ऋषियों पर प्रहार किया । उन्होंने दक्ष का शिरोच्छेद कर उसे अग्नि में फेंक दिया। बाद में जब मृतकों के शरीर को ढूँढ़ा गया, तब दक्ष का सिरहीन शरीर मिला। उनका सिर न होने के कारण एक बकरे का सिर काटकर उनके धड़ से लगाया गया और इस तरह दक्ष पुनरुज्जीवित हो गए।
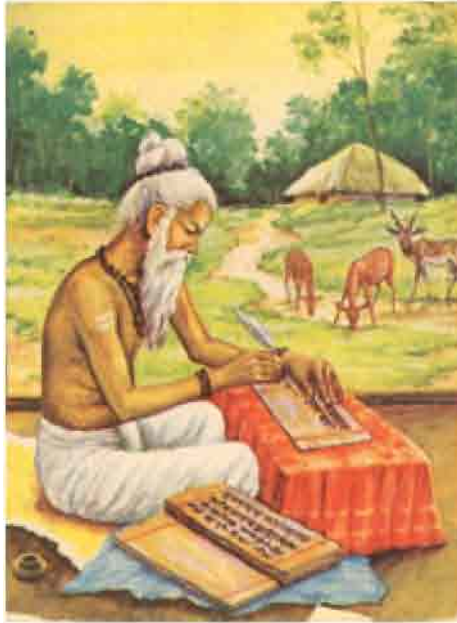
एक अन्य कथा के अनुसार दक्ष का पुनर्जन्म एक अन्य मन्वन्तर में प्रजापति प्राचीनबर्हि के दस पुत्र प्रचेता और मारिषा की सन्तान के रूप में हुआ था। यह कथा इस प्रकार है : प्रचेतागण सदाचार-सम्पन्न थे और उन्होंने जल में रहकर दीर्घ काल तक तपस्या की। जब वे बाहर आए तो उन्होंने देखा कि पृथ्वी वृक्ष और उसकी शाखाओं से इतनी घनी हो गई है कि वहाँ जीवों के लिए रहना दुष्कर हो गया है। उनके कोप के कारण अग्नि और वायु उत्पन्न हुए और वे पृथ्वी को नष्ट करने लगे। तब चन्द्रमा ने प्रचेताओं को शान्त होने की विनती की और उन्हें मारिषा के रूप में सहधर्मिणी प्रदान की। मारिषा का जन्म एक अप्सरा के स्वेद से हुआ था, जिसे वृक्षों ने संगृहीत किया और वह सुन्दर कन्या में परिवर्तित हो गई। चन्द्रमा ने प्रचेतागण को यह भी कहा कि प्रजापति दक्ष उनके पुत्र के रूप में जन्म लेंगे और बाद में पृथ्वी पर सृष्टि-विस्तार कार्य में सहायता प्रदान करेंगे। कुछ कथाओं के अनुसार शिवजी के शाप के कारण दक्ष का पुनर्जन्म हुआ था।

ऋग्वेद में वर्णन आता है कि दक्ष और अदिति एक-दूसरे से उत्पन्न हुए । इसलिए दक्ष को आदित्य भी कहा जाता है। हरिवंश पुराण में सर्वोच्च ईश्वर विष्णु को दक्ष के रूप में बताया गया है, जो योगशक्ति के द्वारा प्रकट होकर अनेक जीवों को उत्पन्न करते हैं। दक्ष का विश्वदेव के रूप में भी वर्णन प्राप्त होता है।

उनके प्रथम जन्म के विषय में पुराणों में वर्णन आता है कि दक्ष का विवाह स्वायम्भुव मनु की पुत्री प्रसूति से हुआ और उनसे अनेक पुत्रियों का जन्म हुआ। इनमें से दस पुत्रियों का विवाह धर्म से हुआ और तेरह का प्रजापति कश्यप से हुआ। वे तेरह कन्याएँ देवता, उपदेवता, मनुष्य और सभी जीवों की माताएँ हुईं। सोम को विवाह में सताइस पुत्रियाँ दी गईं और वे नक्षत्र बनीं। दक्ष की पुत्रियों में एक का नाम सती था और उनका विवाह शिव से हुआ था। दक्ष की दूसरी पत्नी वीरणी अथवा असिक्नी थीं । उनसे दक्ष ने अपने समान एक सहस्र पुत्र उत्पन्न किए और वे यज्ञादि कार्यों में प्रसिद्ध हुए। उनके अन्य अनेक पुत्र हर्यश्व और शबलश्व हुए। नारद ने अत्यधिक सृष्टि-विस्तार के भय से उन्हें युक्ति द्वारा ब्रह्माण्ड की दूरवर्ती सीमाओं पर स्थान-खोज हेतु भेज दिया था । वे वहाँ से लौटकर कभी नहीं आ सके।

दक्ष का वर्णन न्यायपति के रूप में भी प्राप्त होता है, इससे उनका उत्कृष्ट ज्ञान और प्रभाव परिलक्षित होता है।

दधीचि

ऋषि दधीचि के अन्य नाम दध्यंग और दधीच थे। वे प्रसिद्ध ऋषि अथर्वा के पुत्र थे। महाभारत में उनका वर्णन

उदार और संसार-सारोद्भूत के रूप में आता है। ऋषि दधीचि का वर्णन ऋग्वेद और शतपथ ब्राह्मण में भी आता है। वे अथर्ववेद के विशारद थे। बृहदारण्यक उपनिषद में आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु रहस्यमयी विद्या मधुविद्या का वर्णन प्राप्त होता है। यह विद्या देवराज इन्द्र ने दधीचि को दी थी। दधीचि ने यह विद्या देव-चिकित्सक अश्विनीकुमारों की दी। यह कथा इस प्रकार है – इन्द्र ने दधीचि से कहा था कि यदि वे यह विद्या किसी अन्य को प्रदान करेंगे, तो वे उनका सिर काट देंगे। किन्तु जब अश्विनीकुमार दधीचि के पास विद्यार्जन के लिए उपस्थित हुए, तो उन्होंने दधीचि को यह विद्या देने के लिए सहमत करा दिया। देवराज इन्द्र के कोप से दधीचि को बचाने के लिए अश्विनीकुमारों ने उनका सिर अलग कर उसके स्थान पर अश्वशिर लगा दिया। दधीचि ने इसी अश्वशिर से उनको यह ज्ञान प्रदान किया। इन्द्र ने आकर दधीचि का अश्वशिर काट दिया। उनके जाने के बाद अश्विनीकुमारों ने दधीचि के धड़ पर उनका मूल सिर लगा दिया।

ऋग्वेद में एक वर्णन के अनुसार इन्द्र ने दधीचि की अस्थियों से नब्बे बार नौ वृत्रों का संहार किया था। यह कथा संक्षेप में इस प्रकार है। दधीचि की तपस्या और पवित्रता के प्रभाव से असुरगण नियन्त्रण में थे। किन्तु जब वे स्वर्ग गए, तब असुरों ने कुकर्म करने प्रारम्भ कर दिए। यह देखकर इन्द्र ने विनम्रतापूर्वक दधीचि से पूछा कि क्या उनके कुछ अस्थि शेष हैं, जिनके द्वारा असुरों का संहार किया जा सके। तब दधीचि ने उन्हें अश्वशिर के कंकाल अवशेषों का स्मरण कराया। इन्द्र ने उस अस्थि अवशेषों से भयंकर शस्त्र बनाए और असुरों का संहार किया।

महाभारत और पुराणों में इस कथा का थोड़ा भिन्न वर्णन प्राप्त होता है। त्वष्टा ऋषि ने अपने तप के प्रभाव से यज्ञ में से एक अति बलवान वृत्रासुर को उत्पन्न किया, जिसने समस्त देवताओं को पराजित कर दिया। वृत्रासुर के सामने श्रेष्ठ दैवी अस्त्र-शस्त्र भी निरर्थक हो जाते थे। ब्रह्मा ने देवताओं को परामर्श दिया कि वे ऋषि दधीचि से प्रार्थना करें कि वृत्रासुर को मारने हेतु वज्र बनाने के लिए वे अपनी हड्डियाँ प्रदान करें। देवराज इन्द्र और देवतागण ऋषि दधीचि के पास गए। दधीचि ने अपना शरीर त्याग दिया। जंगली गौओं ने अपनी काँटेदार जीभ से उनकी देह चाटना शुरू किया। चाटते-चाटते चमड़ी समाप्त होकर हड्डियाँ रह गईं। इसके बाद विश्वकर्मा ने हड्डियों से वज्र बनाया। इस वज्र के द्वारा इन्द्र ने वृत्रासुर का वध किया।

दक्ष ने अपने यज्ञ में शिव को आमन्त्रित नहीं किया था। इसका विरोध करने वाले ऋषियों में दधीचि भी थे। आज भी ऋषि दधीचि को आत्म-त्याग का एक ज्वलन्त उदाहरण माना जाता है।

नर-नारायण

नर और नारायण धर्म और उनकी सहधर्मिणी अहिंसा (अथवा मूर्ति) से उत्पन्न हुए थे। धर्म की उत्पत्ति ब्रह्मा के वक्ष से हुई थी। नर गौरवर्ण के थे और नारायण कृष्ण वर्ण के। अर्जुन और श्रीकृष्ण को भी नर और नारायण कहा जाता है।

नर और नारायण सम्बन्धित सभी सन्दर्भों में यह कहा गया है कि उन्होंने हिमालय स्थित बद्रीनाथ में अपने आश्रम में घोर तपस्या की थी। बहुधा लोगों के मन में तपस्या की धारणा अस्पष्ट होती है। महाभारत में वर्णन आता है कि तपस्या का सर्वोच्च प्रयोजन मन और इन्द्रियों को एकाग्र करना होता है। इस एकाग्रता से तप सम्बन्धित शक्तियाँ बढ़ती हैं। बद्रीनाथ में नर और नारायण की तपस्या के फलस्वरूप इतनी शक्ति उत्पन्न हुई है कि हजारो वर्षो से भी यह पवित्र स्थान महान तीर्थ बना हुआ है। असंख्य भक्त, देवता इत्यादि ने कठिनाइयाँ सहते हुए यहाँ साधन-भजन किया है ।

नर और नारायण को महाविष्णु अथवा नारायण का अवतार कहा जाता है। दोनों ऋषियों का चित्रण सदैव साथ में किया जाता है। इसका वर्णन इस प्रकार है : नर का अर्थ होता है मनुष्य अथवा सभी जीव और नारायण अर्थात् ईश्वर अथवा सर्वोच्च सत्ता। ईश्वर अन्तरात्मा और सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में सदैव मनुष्य के साथ रहते हैं। जब नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) प्रथम बार दक्षिणेश्वर गए, तो श्रीरामकृष्ण ने उनके सामने हाथ जोड़कर भावपूर्ण शब्दों में कहा था, ''मैं जानता हूँ प्रभु, आप वही पुरातन ऋषि – नररूपी नारायण हैं, जीवों की दुर्गति दूर करने के लिए आप पुन: संसार में अवतीर्ण हुए हैं।''

बद्रीनाथ में नर और नारायण की उग्र तपस्या से इन्द्र आशंकित हो गए और उन्हें ईर्ष्या होने लगी। उन्होंने अप्सरा, गन्धर्व, और काम को वसन्त, शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु के साथ उनकी तपस्या च्युत करने के लिए भेजा। क्षण भर में बद्री का परिवेश परिवर्तित हो गया। नर और नारायण को विचलित करने के लिए अप्सराओं ने सुन्दर नृत्य और संगीत किया। कुछ समय बाद अप्सराओं को अनुभव हुआ कि वे इन ओजस्वी और शान्त ऋषिद्वय के सम्मुख कितना मूर्खतापूर्ण बर्ताव कर रही हैं ! उन्होंने अपना नृत्य-गान बन्द किया और ऋषिद्वय से क्षमा माँगी। तब कौतुक करने के

लिए नारायण ने एक फूल अपनी जंघा पर रखा और उससे एक अत्यन्त सुन्दर अप्सरा प्रकट हुई। उसकी सुन्दरता ने वहाँ उपस्थित सभी अप्सराओं को लज्जित कर दिया। उस अप्सरा का नाम उर्वशी हुआ, क्योंकि उसकी उत्पत्ति उरु से हुई थी। बाद में वह अन्य अप्सराओं के साथ स्वर्ग गई।

शिव ने अपने त्रिशूल से दक्ष के यज्ञ का विध्वंस किया था। वह धनुष बद्रिकाश्रम की ओर गया और उसने नारायण के वक्ष पर प्रहार किया। उनका ध्यान भंग हुआ और उन्होंने 'हुम्' शब्द का उच्चार किया । त्रिशूल विरुद्ध दिशा में मुड़कर भगवान शिव की ओर गया। नर ने भी एक तिनका लिया और शिव की ओर प्रक्षेपित किया। यह तिनका एक बड़े परशु के आकार में परिवर्तित हो गया। भगवान शिव ने इन दोनों त्रिशूल और परशु को पकड़ लिया। ऋषिद्वय को तब प्रतीत हुआ कि वे किनसे युद्ध कर रहे हैं। उन्होंने शिव से क्षमा माँगी और उनकी पूजा-अर्चना की।

देवराज इन्द्र ने समुद्र मन्थन से प्राप्त अमृत को नर-नारायण के पास सुरक्षा के लिए रखा था। लोग मानते हैं कि अभी भी नर और नारायण सूक्ष्म रूप से बद्रीनाथ में निवास करते हैं । कुछ भाग्यशाली तीर्थयात्रियों को उनके दर्शन भी होते हैं। नर-नारायण ऋषि मनुष्य की चेतना के साथ युक्त हैं और उन्हें उच्चतर भावराज्य की ओर प्रेरित करते हैं।

शुक्राचार्य

शुक्राचार्य असुरों के गुरु थे । उन्हें शुक्र ग्रह का अधिष्ठातृ देवता भी माना जाता है। असुरों की स्वाभाविक प्रवृत्ति सत्ता, शक्ति, अशुभ कार्य इत्यादि में रहती थी । सचमुच इनके गुरु बनना कोई सम्मानजनक पद नहीं था। शुक्राचार्य एक महान ऋषि थे और बहुधा असुरगुरु होने के कारण शुक्राचार्य की स्थिति जटिल हो जाती थी। किन्तु जिस प्रकार सभ्य समाज में अशुभ कार्य करने वालों को भी न्याय की दृष्टि से अपना पक्ष रखने का अधिकार होता है, वैसा ही सम्बन्ध शुक्राचार्य का दैत्यों के साथ था। उनके इसी विचित्र कार्य के कारण उनके सभी महान गुण उपेक्षित हो जाते थे। शुक्राचार्य महर्षि भृगु के पुत्र थे, इसलिए उनका एक नाम भार्गव भी है। उन्हें कवि भी कहा जाता है अथवा कवि (भृगु) और उशनस् का पुत्र भी कहा जाता है। उनके गले में माला और हाथ में कमण्डलु रहता है। वे मन्त्रों के ज्ञाता थे। धन के राजा कुबेर ने भी उनसे एकबार धन माँगा था। पुराणों में वर्णन आता है कि शुक्राचार्य की एक ही आँख थी। भगवान विष्णु ने अपने वामनावतार में उनकी दूसरी आँख दर्भाग्र से बींध दी थी।

यह कथा इस प्रकार है : भगवान विष्णु ने वामन रूप में असुरराज बलि से एक छोटे-से भूखण्ड की याचना की। बलि ने भी सहमति दे दी। बलि वामनरूप ब्राह्मण के हस्त-पाद प्रक्षालन के लिए जल लेकर आए। शुक्राचार्य दैत्यों के गुरु थे और उन्होंने पहले से ही बलि को संकेत दिया कि यह वामनरूप ब्राह्मण विश्वासयोग्य नहीं है । किन्तु बलि ने उनकी बातों की उपेक्षा कर दी। शुक्राचार्य ने एक कीट का रूप धारण किया और वे जलपात्र की टोटी में बैठ गए। प्रक्षालन के बाद दान देना सुनिश्चित हो जाना था। जब बलि ने जलपात्र उठाया, तो उसमें से जल नहीं निकला। वामन ने एक दर्भाग्र लिया और उससे टोटी में छेद किया। इससे शुक्राचार्य की एक आँख भी चली गई और उनकी योजनाओं पर भी पानी फिर गया।

शुक्राचार्य की अनेक पत्नियों का वर्णन प्राप्त होता है। उनमें से एक शतपर्वा अथवा ऊर्जस्वती थीं । उनकी एक सन्तान देवयानी हुई। देवयानी का विवाह चन्द्रवंश के राजा ययाति से हुआ था। हरिवंश में वर्णन आता है कि शुक्राचार्य असुरों की रक्षा के उपाय के लिए भगवान शिव के पास गए। भगवान शिव के अनुसार उन्होंने घोर तपस्या आरम्भ की। उन्होंने अनेक वर्षों तक सिर नीचे पैर ऊपर कर यज्ञधूम का सेवन किया। जब शुक्राचार्य इस तपस्या में निमग्न थे, तब देवताओं ने असुरों पर आक्रमण कर उन्हें पराजित कर दिया। बाद में शुक्राचार्य की घोर तपस्या से देवतागण भयभीत हो गए। इस भय से कि शुक्राचार्य तपस्या से बहुत शक्ति अर्जित कर लेंगे, देवराज इन्द्र ने उनकी तपस्या भंग करने के लिए अपनी पुत्री जयन्ती को भेजा। जयन्ती उन्हें विचलित नहीं कर सकीं, किन्तु बाद में उनका शुक्राचार्य से विवाह हो गया।

पुराणों में वर्णन आता है कि असुरों ने देवताओं के भय से शुक्राचार्य की माता पुलोमा का आश्रय ग्रहण किया था। भगवान विष्णु ने चक्र द्वारा पुलोमा का शिरोच्छेद कर दिया। शुक्राचार्य इससे बहुत व्यथित हो गए। उन्होंने मृतसंजीवनी विद्या द्वारा अपनी माता को पुनरुज्जीवित कर दिया और विष्णु को शाप दिया कि उन्हें पृथ्वी पर सात बार जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। इसी कारण से भगवान विष्णु को अनेकों बार अवतार ग्रहण करना पड़ा। एक अन्य वर्णन के अनुसार यह शाप भृगु ने दिया था, न कि शुक्राचार्य ने। वृद्धावस्था में शुक्राचार्य ने वानप्रस्थी का जीवन व्यतीत किया और मरणोपरान्त उन्हें स्वर्गलोक की प्राप्ति हुई। उन्हें नीतिशास्त्र - शुक्रनीति का भी प्रवर्तक माना जाता है। **(क्रमशः)**

विवेक

भगिनी निवेदिता

(भगिनी निवेदिता की १५० वीं जन्म-जयन्ती के उपलक्ष्य में यह लेखमाला 'विवेक ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ आरम्भ की गई है। – सं.)

प्रत्येक क्षण इन्द्रियों की सनक पर चूहे अथवा छछूंदर की तरह जीने वाले मनुष्यों और किसी विशिष्ट ध्येय के लिए जीने वाले मनुष्यों में बहुत बड़ा अन्तर होता है। भोगमय जीवन की अपेक्षा भ्रमपूर्ण विचारमय जीवन भी अनन्तगुना श्रेष्ठतर है। केवल स्वयं के सुख और लाभ के लिए जीने वाले, उद्दाम शक्तिसम्पन्न और चकाचौंधपूर्ण आडम्बर वाले मनुष्य की अपेक्षा एक सन्त के मार्गदर्शन पर चलने वाला अत्यन्त निर्धन व्यक्ति भी श्रेष्ठतर है। हमें व्यक्ति के बाह्य दिखावे से प्रभावित नहीं होना चाहिए। सभी गुणों में विवेक ही आध्यात्मिक जीवन का दीप्तिमय प्रकाश है। मनुष्य के पास चाहे किसी भी प्रकार की आडम्बरपूर्ण सुविधाएँ क्यों न हो, किन्तु विवेक के बिना वह पशु के समान है।

युवावर्ग स्वच्छन्द और असंयमित दान की प्रशंसा करता है। वे सोचते हैं कि जो व्यक्ति किसी अकथनीय कारण से दान नहीं करते हैं, वे उन लोगों के समान महान और उदार नहीं है, जो पहली बार माँगने पर ही अपनी जेब खाली कर देते हैं। गीता में लिखा है कि देश, काल और पात्र को देखकर दिया गया दान आदर्श दान है। अत: यह स्पष्ट है कि विवेकपूर्ण किया गया दान तथाकथित उदार दान से श्रेष्ठतर है, क्योंकि अविवेकपूर्वक दिया गया दान कभी भी प्राप्तकर्ता के विषय में नहीं सोचता और उसके परिणामों के बारे में भी नहीं सोचता।

हम मनुष्य जाति में किस स्तर पर हैं, यह बुद्धि और शरीर, ध्येय-विचार और इन्द्रिय-भोग के बीच हमारे विवेक पर अधिकांशत: निर्भर है। बाईबल में वर्णन आता है कि एक राजा ने अपनी स्वर्ण-प्रतिमा बनवाई और पूरे विश्व को उसकी पूजा करने के लिए कहा। कुछ समय बाद वही राजा उन्मादवश खेत में जाकर पशुओं के साथ घास खाने लगा। चकाचौंध करने वाली आत्म-प्रतिष्ठा के आदर्शवाद से निरी पाशविकता ढक गई थी। यह वही व्यक्ति था, जिसने एक दिन नवीन धर्म का प्रतिपादन किया और अगले क्षण चार पैरों पर घिसटने लगा ! उससे तो अत्यन्त निर्धन और हीन व्यक्ति श्रेष्ठतर है, जो नि:स्वार्थता, आत्म-संयम और दूसरों को प्रेम प्रदान करने के लिए प्रयत्न कर रहा है । इसलिए मानवता का वास्तविक उद्धार करने वाले लोग इस चरम सत्य से न्यून कुछ भी नहीं बोलते। एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य में अन्तर धन-सम्पत्ति, पद-प्रतिष्ठा अथवा सत्ता प्रदर्शन में नहीं है, किन्तु किसने कितनी मात्रा में आत्म-संयम किया है, केवल इसी में है।

श्रीरामकृष्ण देव कहते थे, किसी भी तरह भगवान के पादपद्म छू लेने से मनुष्य संसार में फँसता नहीं। यह 'भगवान को छू लेना' हम न भूलें। कोई भी धार्मिक व्यक्ति यह न सोचे कि उसके आचरण से जगत में कुछ प्रभाव नहीं होगा। धर्म केवल साधना तक ही सीमित नहीं है, तपस्या केवल पूजागृह की ही बात नहीं है। इस लौकिक जगत में उत्पन्न प्रत्येक महान विचार ईश्वर का स्वरूप है और हमें उसकी उपासना करनी चाहिए। क्या हम इसका समर्थन करें अथवा विरोध करें? हमारा उत्तर ईश्वर को, सत्य के स्वरूप को कुछ भी प्रभावित नहीं करेगा, किन्तु वह हमारी आत्मा के लिए पाप-पुण्य का निर्णायक दिन होगा। इसका परिणाम संसार में हमें ही भुगतना पड़ेगा। हमारा प्रत्येक दिवस, प्रत्येक कार्य और प्रत्येक प्रश्न जो हमारे मन में आता है, वह हमारे पाप-पुण्य का निर्णायक दिवस है। जीवन एक बहुत बड़ी परीक्षा है। हमारे प्रत्येक छोटे-से कार्य से हमारा सम्पूर्ण चरित्र प्रकट होता है। हमारा प्रत्येक कार्य या तो हमें बलवान बनाएगा अथवा दुर्बल बनाएगा। यह हमारे सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व में कुछ जोड़ेगा अथवा कम करेगा। आध्यात्मिकता आकस्मिक रूप से उत्पन्न नहीं होती। दीर्घ, सावधानीपूर्वक और भलीभाँति काट-छाँटकर निर्मित किए हुए मन्दिर में ही सनातन और सार्वभौमिक सत्य की मूर्ति की प्रतिष्ठा होती है। जो सभी वस्तुओं में सत्य का अनुभव करता है, उसी की आत्मा में सत्य का दीप प्रज्वलित होता है। जीवन के प्रत्येक कार्य में विवेक द्वारा हम नित्यानन्द रूपी चरम विवेक को प्राप्त कर सकते हैं। ○○○
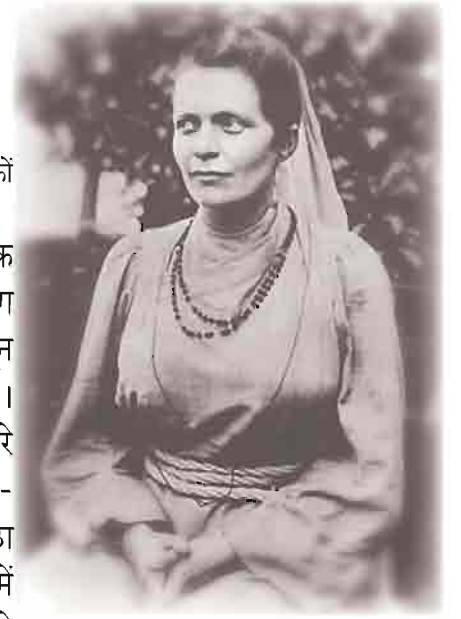
रामकृष्ण संघ के संन्यासियों का दिव्य जीवन (१९)

स्वामी भास्करानन्द

अनुवाद : ब्र. चिदात्मचैतन्य

कर्मयोग और प्रार्थना की अद्भुत शक्ति

स्वामी विश्वरूपानन्द जी महाराज (१९०१-१९७५) रामगति महाराज के नाम से परिचित थे। उन्होंने रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी में कई वर्षों तक सेवा की थी। सेवाश्रम धर्मार्थ चिकित्सालय है। इसका संचालन रामकृष्ण संघ द्वारा होता है। उन दिनों साधुवृन्द अस्पताल के प्रशासनिक संचालन से लेकर रोगियों के घावों की सेवा-शुश्रूषा, सफाई, घावों की मरहम-पट्टी, इत्यादि सभी कार्य स्वयं करते थे। वे लोग स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रवर्तित आदर्श-परम्परा 'शिवभाव से जीवसेवा' की भावना से रोगियों की सेवा करने का प्रयास करते थे।

युवा संन्यासी स्वामी विश्वरूपानन्द महाराज जी को ड्रेसिंग रूम (मरहम-पट्टी कक्ष) में सेवा करने को कहा गया, जहाँ घावों की सफाई और मरहम-पट्टी की जाती थी। महाराज को रोगियों के घावों की सफाई करने एवं मरहम-पट्टी बाँधने का प्रशिक्षण दिया गया। इनमें अधिकांश रोगी बहुत निर्धन थे और वे शहर के तथा आसपास के गाँवों से आते थे । उन दिनों एन्टीबायोटिक औषधि नहीं थी और घावों को ठीक होने में बहुत दिन लगते थे। प्राय: अनेक घाव विषाक्त एवं दुर्गन्धयुक्त हो जाते थे। महाराज दुर्गन्ध के बारे में अतिसंवेदनशील थे। यद्यपि वे उन रोगियों की सेवा करना अपना महान सौभाग्य समझते थे, लेकिन दुर्गन्ध के बारे में अतिसंवेदनशील होने के कारण, उन्हें वहाँ कार्य करने में बहुत कठिनाई होती थी। कुछ घावों से इतनी अधिक दुर्गन्ध आती थी कि उनको अरुचि हो जाती थी। इसके कारण प्राय: उनकी भूख समाप्त हो जाती तथा वे भोजन नहीं कर पाते थे। इसके बावजूद वे इस सेवा में परिवर्तन नहीं चाहते थे। उन्हें लगता था कि रोगियों के मवाद से भरे घावों की सेवा करना एक महान अवसर है।

इसी समय श्रीरामकृष्ण के शिष्य और उच्च कोटि के संन्यासी स्वामी सारदानन्द जी महाराज (१८६५-१९२७) वाराणसी सेवाश्रम में आये। वे स्वामी विश्वरूपानन्द जी के गुरु थे। उन्होंने अपनी समस्या अपने गुरु से कही। स्वामी सारदानन्द जी ने उन्हें भगवान श्रीरामकृष्ण देव से प्रार्थना करने के लिए कहा। अगले दिन, जब स्वामी विश्वरूपानन्द जी अस्पताल के ड्रेसिंग रूम में सेवा करने गये, तो उन्हें परम आश्चर्य हुआ कि जिस मवाद भरे घाव की उन्हें मरहमपट्टी करनी थी, उसमें दुर्गन्ध नहीं आ रही थी। तत्पश्चात् उन्हें मरहमपट्टी करने में कोई कठिनाई नहीं होती थी।

प्राय: सदा सुगन्धित पुष्पों के बीच रहनेवाले पुष्पविक्रेता की घ्राण-शक्ति क्रमश: चली जाती है। स्वामी विश्वरूपानन्द जी महाराज के साथ भी क्या ऐसे ही हुआ? किन्तु यह ठीक नहीं लगता। श्रीरामकृष्ण देव से प्रार्थना करने के बाद अकस्मात् उनकी इस दुर्गन्ध के प्रति संवेदनशीलता चली गयी। यह धीरे-धीरे नहीं हुआ। कैसे इसकी व्याख्या करें? क्या प्रार्थना की शक्ति से ऐसा हुआ? या इसका अन्य कारण था?

स्वामी आदिनाथानन्द जी का कनिष्ठ साधुओं को प्रशिक्षित करने का अनुपम ढंग

स्वामी आदिनाथानन्द जी महाराज (१९०२-१९९५) रामकृष्ण संघ में 'काली दा' के नाम से जाने जाते थे। वे श्रीमाँ सारदा देवी के शिष्य थे। उन्होंने साधु-जीवन का अधिकांश भाग संघ के शैक्षिक केन्द्रों में व्यतीत किया। वे कई वर्षों तक झारखण्ड राज्य के रामकृष्ण विवेकानन्द सोसाइटी, जमशेदपुर के सचिव थे। आश्रम द्वारा वहाँ ग्यारह उत्कृष्ट विद्यालय संचालित होते थे।

उस आश्रम में संन्यासियों के साथ तीन-चार ब्रह्मचारी भी थे। उनमें सुखदेव नामक एक ब्रह्मचारी था। स्वामी आदिनाथानन्द जी महाराज के कमरे की सफाई का दायित्व ब्रह्मचारी सुखदेव पर था। वह महाराज के कमरे में झाड़ू लगाता, फर्नीचर की धूल साफ करता और कभी बिस्तर की चादर बदलता था। एक दिन चादर बदलते समय सुखदेव ने गद्दे के नीचे से फर्श पर कुछ गिरा देखा। देखने पर ज्ञात हुआ कि वह स्वामी आदिनाथानन्द जी की दैनिक डायरी थी, जो फर्श पर खुली पड़ी थी। उसके खुले पृष्ठ पर अपना नाम लिखा देखकर सुखदेव कुछ नहीं समझ सका। उसे पढ़ने की उत्सुकता हुई कि स्वामी आदिनाथानन्द जी ने उसके बारे में क्या लिखा है? मजे की बात यह थी कि उस खुले पन्ने पर आगामी तिथि लिखी थी, जिसमें लिखा था, "आज मुझे सुखदेव को डाँटना है।"

यह पढ़कर सुखदेव आश्चर्यचकित हो गया। स्वामी आदिनाथानन्द जी कनिष्ठ साधुओं को उनकी गलतियों पर

प्राय: डाँटते थे। किन्तु सुखदेव ने यह कभी कल्पना भी नहीं की थी कि साधुओं को डाँटने के लिए वे पहले से योजना बनाते हैं ! रामकृष्ण संघ में डाँटना अनुशासन का एक अंग है। हमारे संघ का औपचारिक नाम 'रामकृष्ण मिशन' है। हमारे कुछ वरिष्ठ संन्यासी विनोद में इसे 'रामकृष्ण मशीन' कहते हैं। कैसी मशीन? अहंकार को चूर्ण करनेवाली मशीन !

जब कोई रामकृष्ण संघ में साधु बनने के लिये आते हैं, तो अपने साथ अच्छे-बुरे स्वभाव लेकर आते हैं। लेकिन जैसे ही वे इस अहंकारनाशक मशीन 'ego-crushing machine' में प्रवेश करते हैं, तराशने की क्रिया प्रारम्भ हो जाती हैं। तराशने के बाद वे सुसंस्कारित और उत्तम व्यक्तित्वशाली बनकर संघ की सेवा के योग्य होते हैं।

स्वामी आदिनाथानन्द जी महाराज जानते थे कि उनका डाँटना कनिष्ठ साधुओं के मिथ्या अहंकार को चूर्ण करने में सहायक होगा। किसे और कब डाँटना है, यह उनका पूर्व नियोजित रहता था। उनका यह अभिनय मात्र था । उनका कनिष्ठ साधुओं को डाँटना उनके प्रति विशुद्ध प्रेम एवं सद्भावना की अभिव्यक्ति थी।

एक दूसरी घटना है। ब्रह्मचारी उगप्पा उस समय जमशेदपुर आश्रम के खजांची थे। आश्रम के कई विद्यालय थे। उन्हें संचालित करने के लिए सरकारी अनुदान मिलता था। आश्रम में उस प्रकार के अनुदान के चेक वर्ष में विभिन्न समय आते रहते थे। एक बार सरकार की ओर से बहुत बड़ी अनुदान राशि का चेक आया। लेकिन वह शनिवार को दोपहर के बाद आश्रम में पहुँचा। तब तक बैंक बन्द हो चुके थे। अगले दिन स्वामी आदिनाथानन्द जी ने उगप्पा से कहा, "बैंक जाकर चेक जमा कर दो।"

उगप्पा ने कहा, "महाराज, आज रविवार है। बैंक बन्द हैं। आज चेक जमा करना असम्भव है।"

महाराज ने कहा, "तुमने बिना प्रयास किये ही कह दिया कि यह असम्भव है! पहले जाओ, प्रयास करो और उसके बाद मुझे बताओ कि तुम चेक जमा नहीं कर सके !"

उगप्पा यह ठीक से जानते थे कि आज बैंक बन्द है, इसलिये चेक जमा करना असम्भव है। फिर भी, उन्होंने सोचा कि एक प्रयास कर ही लेता हूँ। आश्रम बैंक का एक महत्त्वपूर्ण ग्राहक था और स्वामी आदिनाथानन्द जी महाराज को वहाँ के प्रभारी अच्छी तरह जानते थे। इसके अतिरिक्त स्वामी आदिनाथानन्द जी महाराज पूरे शहर में एक प्रसिद्ध व्यक्ति थे, सभी उनका सम्मान करते थे। उगप्पा सीधे प्रभारी के घर चले गये। प्रभारी ने उनका हार्दिक स्वागत किया। उसके बाद ब्रह्मचारी उगप्पा ने स्वामी आदिनाथानन्द जी महाराज की बात उन्हें बतायी। उनकी बात सुनकर प्रभारी ने कुछ क्षण सोचकर उगप्पा से कहा, "चलिए, बैंक चलें। देखूँ, मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ !" दोनों बैंक में गये। प्रभारी ने बैंक का दरवाजा खोला और उगप्पा से चेक लेकर खजांची के कार्यालय में गये तथा आश्रम के खाते में चेक जमा कर दिया।

ब्रह्मचारी उगप्पा ने आश्रम वापस आकर स्वामी आदिनाथानन्द जी को सारी घटना बता दी। स्वामी आदिनाथानन्द जी ने कहा, "अब तुमने सीखा कि हमारे प्रयत्न करने पर असम्भव प्रतीत होनेवाला कार्य भी सम्भव हो सकता है।"

स्वामी आदिनाथानन्द जी महाराज एक महान कर्मयोगी थे। उनका आदर्श, प्रेम और सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास कर्मयोग की उपासना का परिणाम था। एक बार उन्होंने कहा था, "श्रीरामकृष्ण के आशीर्वाद से कर्मयोग द्वारा मैं अपनी निम्न वासनाओं को जलाने में सक्षम हुआ था।" जिस कर्म की वे बात कर रहे थे, वह निष्काम कर्म था, जिसे उन्होंने जीवन भर संघ में रहकर किया था। **(क्रमशः)**

प्रेममय रूप तुम्हारा

डॉ. सत्येन्दु शर्मा, रायपुर

सकल प्रेममय रूप तुम्हारा
गुण चैतन्य चिरन्तन ।
सत् स्वभाव आनन्द सदा ही
द्रष्टा पुरुष निरंजन ।।
दृश्यमान यह जगत देह है
मस्तक है आकाश ।
सूर्य-चन्द्र दो नयन तुम्हारे
हास धवल कैलास ।।
परम समर्पित भक्त हृदय है
आत्मरूप हैं सन्त ।
तमोबहुल सब असुरों के तुम
उद्धारक भगवन्त ।।
तुम्हीं जग, जग में तुम,
तुममें जग, यह रहस्य जो जान ।
कुछ-कुछ जान गया वह तुमको
जीवन्मुक्त सुजान ।।

आत्मबोध

श्रीशंकराचार्य

(अनुवाद : स्वामी विदेहात्मानन्द)

स्थाणौ पुरुषवद्भ्रान्त्या कृता ब्रह्मणि जीवता ।
जीवस्य तात्त्विके रूपे तस्मिन् दृष्टे निवर्तते ।।४५।।

पदच्छेद – *स्थाणौ पुरुषवत् भ्रान्त्या कृता ब्रह्मणि जीवता जीवस्य तात्त्विके रूपे तस्मिन् दृष्टे निवर्तते ।*

अन्वयार्थ – जैसे **स्थाणौ** स्थाणु (वृक्ष की ठूँठ) में **पुरुषवत्** मनुष्य जैसा (दीख पड़ता है), (वैसे ही) **भ्रान्त्या** भ्रान्ति के कारण **ब्रह्मणि** ब्रह्म में **जीवता** जीवत्व **कृता** आ जाता है, **जीवस्य** जीव के **तात्त्विके** तात्त्विक (सच्चे) **रूपे** स्वरूप का **दृष्टे** बोध हो जाने पर, **तस्मिन्** उस (जीवभाव) से **निवर्तते** निवृत्ति हो जाती है ।

श्लोकार्थ – जैसे भ्रमवश वृक्ष का ठूँठ मनुष्य जैसा दीख पड़ता है, वैसे ही भ्रान्ति के कारण ब्रह्म में जीवभाव आ जाता है, जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाने पर, उस जीवभाव का नाश हो जाता है ।

तत्त्वस्वरूपानुभवादुत्पन्नं ज्ञानमञ्जसा ।
अहं ममेति चाज्ञानं बाधते दिग्भ्रमादिवत् ।।४६।।

पदच्छेद – *तत्त्व-स्वरूप-अनुभवाद् उत्पन्नम् ज्ञानमञ्जसा अहम् मम इति च अज्ञानं बाधते दिक्-भ्रमादिवत् ।*

अन्वयार्थ – **तत्त्व-स्वरूप-अनुभवाद्** अपने सच्चे स्वरूप के अनुभव से **उत्पन्नम्** उत्पन्न **ज्ञान-मञ्जसा** ज्ञान द्वारा तत्काल **अहम् मम** 'मैं'-'मेरा' का भाव, **इति च** तथा **अज्ञानं** अज्ञान **बाधते** दूर हो जाता है, **दिक्-भ्रमादिवत्** दिशा-सम्बन्धी भ्रम के समान ।

श्लोकार्थ – जैसे दिशाओं के सही ज्ञान से दिशा-सम्बन्धी भ्रम दूर हो जाता है, वैसे ही अपने सच्चे स्वरूप के अनुभव से उत्पन्न ज्ञान द्वारा 'मैं-मेरा'-रूप अज्ञान तत्काल दूर हो जाता है ।

सम्यग्विज्ञानवान्योगी स्वात्मन्येवाखिलं जगत् ।
एकञ्च सर्वमात्मानमीक्षते ज्ञानचक्षुषा ।।४७।।

पदच्छेद – *सम्यक् विज्ञानवान् योगी स्वात्मनि एव अखिलम् जगत् एकम् च सर्वम् आत्मानम् ईक्षते ज्ञान-चक्षुषा ।*

अन्वयार्थ – **सम्यक्** पूर्ण **विज्ञानवान्** ज्ञान प्राप्त हुआ **योगी** योगी **ज्ञान-चक्षुषा** (अपने) ज्ञान-नेत्रों द्वारा, **अखिलम्** सम्पूर्ण **जगत्** जगत् को **स्वात्मनि** अपनी आत्मा में **एव** ही **ईक्षते** देखता है **च** और **सर्वम्** सब कुछ **एकम्** एक **आत्मानम्** आत्म-स्वरूप ही (देखता है) ।

श्लोकार्थ – सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त हुआ योगी अपने ज्ञान-नेत्रों द्वारा, सारे जगत् को अपनी आत्मा में ही देखता है और सब कुछ एक आत्म-स्वरूप ही (देखता है) ।

आत्मैवेदं जगत्सर्वमात्मनोऽन्यन्न विद्यते ।
मृदो यद्वद् घटादीनि स्वात्मानं सर्वमीक्षते ।।४८।।

पदच्छेद – *आत्मा एव इदम् जगत् सर्वम् आत्मनः अन्यत् न विद्यते मृदः यत् वत् घटादीनि स्वम् आत्मानं सर्वम् ईक्षते ।*

अन्वयार्थ – **इदम्** यह **सर्वम्** सारा **जगत्** जगत् **आत्मा** आत्मा **एव** ही है, **आत्मनः** आत्मा से **अन्यत्** भिन्न **न विद्यते** (कुछ भी) नहीं होता । **यद्वत्** जैसे **घटादीनि** घड़ा आदि **मृदः** मिट्टी (ही) है, (वैसे ही ज्ञानी) **सर्वम्** सबको **स्वम्** अपनी **आत्मानं** आत्मा (ही) **ईक्षते** देखता है ।

श्लोकार्थ – यह सारा जगत् आत्मा ही है, (इसमें) आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है । जैसे घड़ा आदि मिट्टी (ही) है, (वैसे ही ज्ञानी) सबको अपनी आत्मा (ही) देखता है ।

जीवन्मुक्तस्तु तद्विद्वान् पूर्वोपाधिगुणांस्त्यजेत् ।
सच्चिदानन्दरूपत्वाद् भवेद् भ्रमरकीटवत् ।।४९।।

पदच्छेद – *जीवन्मुक्तः तु तत् विद्वान् पूर्व उपाधि-गुणान् त्यजेत् सत्-चित्-आनन्द-रूपत्वात् भवेत् भ्रमरकीटवत् ।*

अन्वयार्थ – **तत्** वह **विद्वान्** ज्ञान से युक्त **जीवन्मुक्तः** जीवन्मुक्त **तु पूर्व** अपने पूर्व **उपाधि-गुणान्** उपाधियों के गुणों को **त्यजेत्** त्याग देता है । अपने **सत्-चित्-आनन्द-** सत्-चित्-आनन्द- **रूपत्वात्** स्वरूप (का बोध) हो जाने से (वह ब्रह्म ही) **भवेत्** हो जाता है, **भ्रमर-कीटवत्** कीट के भ्रमर हो जाने के समान ।

श्लोकार्थ – ज्ञान से युक्त वह जीवन्मुक्त पूर्वोक्त उपाधियों के गुणों को त्याग देता है । जैसे भ्रमर का ध्यान करते हुए कीट भ्रमर ही हो जाता है, वैसे ही वह सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है ।

आधुनिक मानव शान्ति की खोज में (११)

स्वामी निखिलेश्वरानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन, वड़ोदरा

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि, ''जब कोई तुम्हारी निन्दा करे तब तुम उसे आशीर्वाद दो। जरा सोचो तो सही, वे तुम्हारे व्यर्थ के अहं को मिटाकर तुम्हारा कितना भला कर रहे हैं ?'' अहं को मिटाने का कार्य जो साधना से नहीं होता है, वह निन्दक के द्वारा हो जाता है। इसलिये मनुष्य को निन्दक के प्रति कृतज्ञ होना चाहिये। शास्त्रों में कहा गया है कि निंदक जिसकी निन्दा करता है, उसके खाते में निंदक का पुण्य जमा हो जाता है और जिसकी निन्दा करता है, उसके खाते में यदि पाप कर्म जमा हो गये हों, तो वे निन्दक के खाते में चले जाते हैं।

एक राजा के मन में प्रश्न उठा कि जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति कैसे मिले? उन्होंने कई लोगों से पूछा, पर किसी ने संतोषजनक उत्तर नहीं दिया। एक दिन एक साधु से उनकी भेंट हुई। उन्होंने उनसे भी वही प्रश्न पूछा। साधु ने कहा – ''हाँ, मेरे पास इसका उत्तर है। एक तो आप अपने पापकर्मों से मुक्त हो जाओ, अच्छे कार्य करो, प्रायश्चित्त करो। दूसरा मार्ग है कि कोई आपके पापकर्मों का फल अपने खाते में ले ले। यह तभी सम्भव है जब वह आपकी निन्दा करे।'' कई लोगों का स्वभाव ही निन्दा करने का होता है। उन्हें निन्दा किये बिना शान्ति नहीं मिलती है। दूसरों की निन्दा करने में ही उन्हें आनन्द आता है। ऐसे लोगों के प्रति उपेक्षा की भावना ही रखनी चाहिये। यदि हम उनकी बातों पर ध्यान दें, तो बाप-बेटा और गधे वाली कहानी जैसा हो जायेगा।

एक आदमी ने अपने बेटे को गधे पर बैठाया और स्वयं पैदल जा रहा था। लोगों ने देखकर कहा – देखो, बेटा तो गधे पर बैठा है और बाप को पैदल चला रहा है। बेटे ने बाप को भी गधे पर बैठा लिया, तो लोग कहने लगे – देखो, दोनों गधे पर बैठ गये, बेचारे गधे पर अत्याचार कर रहे हैं। यह सुनकर दोनों पैदल चलने लगे। तब लोग निन्दा करने लगे कि कितने मूर्ख हैं, इनके पास गधा है, फिर भी पैदल जा रहे हैं। लोगों की निन्दा पर ध्यान देने का परिणाम यह हुआ कि दोनों ने गधे को उठा लिया और जब नदी के पुल पर से गुजर रहे थे, तो गधा नदी में गिर गया। इस प्रकार लोगों की निन्दा पर ध्यान देने वाले कभी सुख-शान्ति से जी नहीं सकते।

एक वैरागी साधु की बात है। वह साधु अकिंचन था, अपने पास कुछ रखता नहीं था। एक दिन एक तालाब के किनारे वृक्ष के नीचे एक पत्थर को तकिया बनाकर वह सो रहा था। कुछ पनिहारिन युवतियाँ आपस में बातचीत करते-करते पानी भरने जा रही थीं। एक ने कहा, ''देखो उस वैरागी साधु को, भाई साहब को तकिये के बिना नहीं चलता है, इसलिये पत्थर का तकिया बनाया है। वह साधु आँखें बन्द किए था, किन्तु सब सुन रहा था। ये बहनें ठीक ही कह रही हैं। मैंने इतना त्याग किया, तो तकिये का त्याग नहीं कर सकता !'' उसने पत्थर हटा लिया। वापस लौटते समय वे फिर आपस में कहने लगीं, ''साधु सब कुछ त्याग कर सकते हैं, पर अहंकार का त्याग नहीं कर सकते हैं। हमने इतनी-सी बात की, उसमें इनको इतना बुरा लगा गया कि पत्थर खिसका दिया।'' इस तरह जिनको निन्दा करनी होती है, वे किसी भी बात पर निन्दा करेंगे। किसी के मुँह पर ताला तो नहीं लगा सकते हैं, इसलिये निन्दा की ओर ध्यान नहीं देना चाहिये।

अमेरिका के भूतपूर्व प्रेसीडेन्ट अब्राहम लिंकन ने कहा था, ''मुझे (आलोचना के) जितने पत्र आते हैं, उनका उत्तर देना तो दूर, उन्हें यदि केवल पढ़ूँ, तो मुझे दूसरे सब कार्यों को छोड़ना पड़ेगा। मैं तो जितना सम्भव हो सके, उतने अच्छे ढंग से काम करता हूँ। यदि मैं अन्त में सफल होता हूँ, तो दूसरों ने मेरे विरुद्ध जो कहा है, सब बेकार है और यदि अन्त में गलत सिद्ध होता हूँ, तो हजारों देवों की शपथ लेकर अपनी सच्चाई को सिद्ध करने का प्रयत्न करूँ, तो भी कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।'' यह बात ध्यान में रखकर व्यक्ति को निन्दा की उपेक्षा करके सच्चाई से अपने कार्य में लगे रहना चाहिये।

बंगाल के सुप्रसिद्ध विद्वान पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को किसी ने कहा कि अमुक व्यक्ति आपकी बहुत निन्दा करता है। यह सुनकर कुछ देर सोचने के बाद उन्होंने

कहा, "मुझे तो याद नहीं कि मैंने उसका कुछ भला किया हो।" जिनकी वे सहायता करते थे, वे लोग ही पीछे से उनकी निन्दा करते थे। लेकिन इससे उनके स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आया। वे हमेशा दूसरों का भला करते रहे। ईसा मसीह को जब सूली पर चढ़ाया गया, उस स्थिति में भी उन्होंने वध-स्तंभ पर चढ़ानेवालों के लिये प्रभु से प्रार्थना की, "हे पिता, तुम उन्हें क्षमा कर दो ! क्योंकि वे नहीं जानते कि क्या कर रहे हैं।" महात्मा लोग दूसरों की निन्दा सहकर भी उनका भला करते हैं।

एक साधु ने स्नान करते समय देखा कि एक बिच्छु नदी में डूब रहा है। उन्होंने दया कर उसे हाथ से बाहर निकालने का प्रयास किया। बिच्छु ने डंक मारा, तो हाथ हिलने से फिर वह पानी में गिर गया। साधु ने फिर बाहर निकाला, बिच्छु ने फिर डंक मारा। इस प्रकार कई बार हुआ, तो किनारे पर खड़े आदमी ने यह देखकर साधु से पूछा, " बिच्छु आपको बार-बार डंक मार रहा है, तो आप उसे क्यों बचा रहे हो?" तब साधु ने कहा, "बिच्छु का स्वभाव है डंक मारना और साधु का स्वभाव है दूसरों का भला करना। बिच्छु अपना स्वभाव नहीं छोड़ता है, तो मैं क्यों अपना स्वभाव छोड़ दूँ?"

निन्दा करने वाले मनुष्य बिच्छू जैसे हैं। वे अपना स्वभाव नहीं छोड़ते हैं। ऐसे मनुष्य तो मानसिक दर्दी होते हैं दर्दी के प्रति तो हमदर्दी रखनी चाहिये। उनके लिये प्रार्थना करनी चाहिये कि प्रभु उन्हें सद्बुद्धि दें और निन्दा-रोग से मुक्त करें। इस सन्दर्भ में भी एक सुप्रसिद्ध कहानी है। एक भक्त नाव में कहीं जा रहा था। नाव में बैठे अन्य लोग पूरे संसारी थे। वे भक्त की हँसी उड़ाने लगे। भक्त निर्विकार चित्त से प्रभु का स्मरण करते हुए बैठा रहा। नाव मझधार में पहुँच गई, किन्तु ये निन्दा करते ही रहे। अन्त में भगवान से रहा नहीं गया। उन्होंने तुरन्त भक्त के सम्मुख प्रकट होकर कहा, "यदि तू कहे, तो अभी इस नाव को पलट कर डुबो दूँ और तुझे बचा लूँ।" तब भक्त ने हाथ जोड़कर कहा, "प्रभु पलटना ही हो, तो नाव नहीं, इनकी बुद्धि पलट दो।" इस प्रकार भक्तों, संतों, सज्जनों को भी निन्दा का शिकार बनना ही पड़ता है। सामान्य मनुष्य उनकी गतिविधि नहीं समझ सकते हैं, इसलिये वे विशेष निन्दा के पात्र बनते हैं। परन्तु उन्हें निन्दा करने वालों के प्रति कोई द्वेष-भाव नहीं होता है। वे अपने ध्येय में, भक्ति में लीन रहते हैं। इसलिये कहावत है –

हाथी चले बाजार में, कुत्ते भौंके हजार।

साधु को दुर्भाव नहीं, निंदे चाहे संसार।।

स्वामी विवेकानन्द ने जब रामकृष्ण मिशन की स्थापना की और शिवज्ञान से जीवसेवा का कार्य प्रारम्भ किया, तब संन्यासियों को रोगियों की सेवा करते हुए एवं हिसाब-किताब रखते हुए देखकर लोगों ने बहुत आलोचना की। स्वामी विवेकानन्द ने अपने दो शिष्य स्वामी कल्याणानन्द और स्वामी निश्चयानन्दजी को रोगियों की देखभाल के लिये हरिद्वार भेजा था। रामकृष्ण मिशन के साधुओं को तब अन्य साधु-समाज के लोग भंगी-साधु कहकर बुलाते थे और उन्हें साधु जमात से अलग ही समझते थे। किन्तु बाद में धीरे-धीरे इस सेवा की महक फैलने लगी। लोग सेवा का मूल्य समझे और अन्य साधु, संन्यासी भी सेवाकार्य में लग गये। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि प्रत्येक महान कार्य को तीन अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है विरोध, उपेक्षा और स्वीकार। कोई भी व्यक्ति जब दृढसंकल्प के साथ क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने का शुभ कार्य प्रारम्भ करता है, तब निन्दा की आँधी आती ही है। उसे उसमें से वीरता से प्रशान्तचित्त से चले जाना है।

जब कोई हमारी निन्दा करे, तब हम इतना करें –

१. शान्तचित्त से, मानसिक संतुलन खोए बिना सुनें, भावावेश में न आकर बुद्धिपूर्वक विचार करें।

२. अन्य किसी के द्वारा की गई निन्दा हम तक पहुँचें, तब तक बदल तो नहीं गई है, इसका पता कर लें, क्योंकि अधिकांश लोगों को नमक-मिर्च लगाकर बोलने की आदत होती है। कई लोगों को दोनों पक्ष की निन्दा एक-दूसरे को कहकर झगड़ा करवाने की आदत होती है।

३. सच्चाई जानने के बाद, उसका विश्लेषण करें कि उसने निन्दा क्यों की? प्रत्यक्ष, परोक्ष या आंशिक रूप से यदि हम उसके कारण हों, तो तुरन्त अपना दोष स्वीकार कर निन्दक से क्षमा प्रार्थना करें। इससे जो लोग कल्याण के लिये निन्दा करते हैं (जिनकी संख्या बहुत कम होती है) उनकी कृपादृष्टि हम पर रहेगी और जो ईर्ष्या या अन्य कारणों से निन्दा करते हैं, उनका क्रोध भी क्षमा माँगने से शान्त हो जाएगा।

४. यदि निष्पक्ष आत्म-विश्लेषण के बाद ऐसा लगे कि हमारा प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई दोष नहीं है, अकारण ही निन्दक ने निन्दा की है, तो समझ लेना कि निन्दक ईर्ष्या, राग-द्वेष आदि मानसिक रोग से पीड़ित है। ऐसे दर्दी के प्रति हमदर्दी रखकर उसका रोग दूर करने के लिये प्रार्थना करें।

५. निन्दक के प्रति हमें कृतज्ञता का भाव रखना चाहिये। वे हमारे क्षुद्र अहं को मिटाकर आध्यात्मिक साधना में सहायक हो रहे हैं। साथ ही, अनजाने में वे अपना पुण्य हमारे खाते में और हमारे पाप अपने खाते में जमा कर रहे हैं।

६. ''सत्यमेव जयते'' और ''जैसी करनी वैसी भरनी''- इन सिद्धान्तों पर विश्वास रखकर, धैर्यपूर्वक निन्दा सहन कर लें और क्रिया-प्रतिक्रिया के चक्कर के विषचक्र से बचने का प्रयत्न करें।

७. ''लोगों के मुँह ताला नहीं लगा सकते'' कहावत को ध्यान में रखकर निन्दा से विचलित हुए बिना दृढ़ता से अपने सत्य के मार्ग पर अग्रसर होते रहें।

अन्त में संत कबीर की इस वाणी का अनुसरण करके निन्दकों को अपने पास रखकर स्वभाव निर्मल बनाएँ।

''निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय,
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करे सुभाय।''

इस प्रकार निन्दा हमें सजग करती है, हमारी बुद्धि को शुद्ध और निर्मल बनाती है, हमारे संकल्प को और अधिक दृढ़ बनाती है- ऐसी भावना मन में दृढ़ करने से, फिर निन्दा कभी भी हमारे मन को विचलित नहीं कर सकती है। **(क्रमशः)**

पृष्ठ ३२१ का शेष भाग

मैं यहाँ से गया और तपस्या की तो मैंने सिद्धि प्राप्त कर ली है। तब गुरु ने उससे पूछा कि तूने क्या सिद्धाई प्राप्त की है? तब वह गुरुजी को सिद्धाई दिखाने लगा। वहाँ से एक हाथी जा रहा था। उसने कुछ मन्त्र फूँका और हाथी मर गया। फिर उसने पुन: मन्त्र फूँका हाथी उठ बैठा। तब गुरुजी ने कहा कि इसके लिए तूने अपने जीवन के बहुमूल्य बीस वर्ष गवाँ दिये। तूने हाथी को मारा और फिर उसे जिला दिया, पर तुझे इससे क्या लाभ हुआ? क्या तू अपनी इन्द्रियों को मार सका? हाथी को मारना और हाथी को जिला देना, यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। असली सिद्धि तो अपनी बहिर्मुखी इन्द्रियों को नियन्त्रण करने में ही है। अपनी इन्द्रियों का दमन करने में ही है। अपनी इन्द्रियों का दमन करने और उन्हें पूरा अपने नियन्त्रण में करने से बड़ा चमत्कार, उससे बड़ी सिद्धि, इस जीवन में और कोई हो ही नहीं सकती। **(क्रमशः)**

बीती बातें बीते पल

शरीर के प्रति दृष्टिकोण

स्वामी यतीश्वरानन्द जी रामकृष्ण संघ के सह-संघाध्यक्ष थे। वे स्वामी ब्रह्मानन्दजी के शिष्य थे और रामकृष्ण संघ की अत्युच्च आध्यात्मिक विभूतियों में एक थे।

एकबार कुछ भक्त स्वामी यतीश्वरानन्द महाराज से सत्संग कर रहे थे। महाराज कह रहे थे, ''आध्यात्मिक साधना के लिए स्वास्थ्य अच्छा होना चाहिए। यदि सिरदर्द, उदररोग अथवा अन्य कोई समस्या हो तो, क्या हम ठीक ध्यान कर सकते हैं, नहीं ! एकबार मुझसे किसी ने कहा था, 'स्वामीजी मैं शरीर को भूल जाना चाहता हूँ और केवल ध्यान करना चाहता हूँ।' तब मैंने कहा, 'अरे! तुम भले ही शरीर को भूल जाओ, किन्तु शरीर तुम्हें भूलेगा नहीं !' '' सभी हँस पड़े।

महाराज कह रहे थे, ''कोई भी आध्यात्मिक साधक अपने शरीर अथवा स्वास्थ्य की उपेक्षा नहीं कर सकता। दुर्बल और रोगमय शरीर से क्या हो सकता है। किन्तु शरीर के प्रति अपना दृष्टिकोण बदलो। यह भोग करने का साधन भी नहीं है और रोगों का घर भी नहीं है। यह शरीर ईश्वर का मन्दिर है, जिसमें आत्मा वास करती है। यह देह-देवालय है – शरीर के प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाओ। हम अज्ञानी हैं, हमारे पास आँखें हैं, किन्तु हम नेत्रहीन होने का व्यवहार करते हैं।''

इस विषय में उन्होंने पाश्चात्य देश का एक प्रसंग कहा था, ''एकबार एक व्यक्ति नेत्रहीन होने का नाटक कर सड़क के पास बैठा था। उसने अपने पास एक सूचना पट्ट लगाया था – कृपया इस अन्धे की सहायता करें। एक महिला को उस पर दया आ गई और उसने उस व्यक्ति को दो शिलिंग का एक सिक्का दिया। उस व्यक्ति ने कहा, 'कृपया एक-एक शिलिंग के दो सिक्के दीजिए। दो शिलिंग का एक सिक्का अपशकुन माना जाता है।' वह महिला आश्चर्यचकित हो गई, 'क्या तुम देख सकते हो?' तब उस व्यक्ति ने कहा, 'दरअसल जो व्यक्ति अन्धे होने का नाटक करता है, वह सिनेमा देखने गया है और मैं बहरे होने का नाटक करता हूँ। वह सिनेमा देखने गया है, इसलिए मैं उसके स्थान पर बैठा हूँ।' उस महिला ने कहा, 'तो मैं भी वैसी ही बहरी हूँ।' ऐसा कहकर वह वहाँ से चली गई।'' हम भी पवित्र आध्यात्मिक जीवन यापन कर सकते हैं, किन्तु ऐसा हम करना नहीं चाहते। ○○○

अच्छे बीजों की तरह अच्छे विचारों का चयन करें

सीताराम गुप्ता, दिल्ली

एक किसान फसल काटने के बाद सबसे पहले जो काम करता है, वह है फसल में से सर्वोत्तम बीजों का चुनाव करना और अगले साल बोने के लिए उन्हें सुरक्षित भंडार-घर में रख देना। एक किसान की तरह हमें भी अपने मन रूपी भंडार में केवल सर्वोत्तम विचारों का ही भंडारण करना चाहिए। जिस प्रकार उत्तम बीजों से उत्तम फसल प्राप्त की जा सकती है, उसी प्रकार सकारात्मक विचार रूपी बीज ही उचित अवसर पाकर व्यक्ति तथा समाज के लिए उत्तम सृजन कर पाने में सक्षम हैं।

मनुष्य के मन में हर क्षण असंख्य विचार उत्पन्न होते रहते हैं, जिनमें से कुछ विचार सकारात्मक या उपयोगी होते हैं और कुछ नकारात्मक या अनुपयोगी। अधिकांश विचार निरर्थक और नकारात्मक होते हैं। यदि वे सभी विचार प्रभावी हो जायँ, तो हमारा जीवन नरक बन जाए। इसलिए विचारों के चयन में भी हमें सदा सचेत रहने की आवश्यकता है। हमें मन में सकारात्मक और उपयोगी विचारों के संस्कार ही देने का प्रयास करना चाहिये। क्योंकि व्यक्ति के विचार अथवा चिन्तन ही उसके सार्थक जीवन के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण हैं।

कोई व्यक्ति क्या सोचता है यह महत्त्वपूर्ण है, क्या करता है अथवा कैसा दिखता है, यह नहीं। क्योंकि वह जो भी कर रहा है अथवा जैसा दीख रहा है, वह उसके पूर्व चिन्तन का ही परिणाम है। उसके पिछले विचारों ने ही उसके वर्तमान का निर्माण किया है। चाहे व्यक्ति का भौतिक शरीर हो, उसकी वर्तमान आर्थिक स्थिति हो, उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण अथवा वर्तमान मनोवृत्ति हो या उसके संस्कार हों, ये सब उसकी पिछली सोच का ही फल है। यही कर्मफल का सिद्धान्त है। जैसा बोओगे, वैसा पाओगे।

सोच भी वह बीज ही तो है, जिसकी फसल सोचनेवाले को कर्मफल के रूप में काटनी पड़ती है। अच्छी सोच रूपी बीज बोओगे, तो उसी के अनुरूप अच्छा व्यक्तित्व, अच्छा स्वास्थ्य, अच्छे संस्कार और सुख-समृद्धि रूपी अच्छी फसल काट पाओगे। अपनी सोच को बदल कर उसे सकारात्मकता प्रदान कर हम अपने सुनहरे भविष्य का निर्माण कर सकते हैं तथा विकारों से मुक्ति पा सकते हैं, इसमें संदेह नहीं है। दूसरे हमारे बारे में क्या सोचते हैं, इसका हम पर कोई असर नहीं पड़ता, अपितु हमारी अपनी सोच ही हमें और दूसरों से हमारे व्यवहार को प्रभावित करती है।

प्रत्येक किसान के खेत में हर बार अच्छी फसल नहीं होती। कई बार फसल कमजोर होती है, तो कई बार बीजों में कीड़े आदि लग जाते हैं। ऐसे में किसान बड़ी समझदारी से काम लेता है। जैसे किसान घुन लगे या कमजोर बीज को कभी नहीं बोता। अगले साल बोने के लिये वह किसी भी प्रकार से सर्वोत्तम बीजों की ही व्यवस्था करता है। वैसे ही व्यक्ति को भी अच्छे विचारों के चयन के लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। विचारों का उद्‌गम स्थल हमारा मन है। अत: मन पर नियंत्रण द्वारा हम गलत विचारों पर रोक लगा सकते हैं तथा अच्छे विचारों से मन को आप्लावित कर सकते हैं। यदि जीवन रूपी बगिया को सुंदर बनाना है, उसे रंगों से सराबोर करना है तथा उसे भीनी-भीनी सुगन्ध से गमकाना है, तो मन रूपी बगिया में चुन-चुनकर अच्छे विचारों को बोइए, सकारात्मक सोच के पौधे लगाइए।

प्राय: कहा जाता है कि पुरुषार्थ से ही कार्य सिद्ध होते हैं, केवल इच्छा से नहीं। लेकिन मनुष्य पुरुषार्थ कब करता है और किसे कहते हैं पुरुषार्थ? मन की इच्छा के बिना पुरुषार्थ भी असम्भव है। मनुष्य में पुरुषार्थ, साहस और चेष्टा की इच्छा भी किसी न किसी भाव से ही उत्पन्न होती है और सभी भाव मन द्वारा उत्पन्न तथा संचालित होते हैं। अत: मन की उचित दिशा अथवा सकरात्मक विचार ही पुरुषार्थ को सम्भव बनाता है। पुरुषार्थ के लिये उत्प्रेरक तत्त्व मन ही है।

जिस प्रकार वृक्ष के उगने के लिये बीज अनिवार्य है, उसी प्रकार हर कार्य के मूल में भी एक बीज होता है और वह है विचार। जैसा बीज, वैसा पौधा तथा जैसा विचार, वैसा कर्म। मनुष्य हर कर्म किसी-न-किसी विचार के वशीभूत ही करता है। अत: विचारों का बड़ा महत्त्व है। जैसे विचार होते हैं, वैसे कर्म होते हैं और जैसा कर्म होता है, वैसा जीवन होता है। विचार ही हमारे जीवन की दशा और दिशा निर्धारित करते हैं। ○○○

रामकृष्ण मठ-मिशन के विभिन्न केन्द्रों द्वारा भगिनी निवेदिता की १५०वीं जयन्ती मनाई गयी

आँटपुर आश्रम में २६ मार्च को सेमीनार आयोजित हुआ, जिसमें १८० लोगों ने भाग लिया।

राजमन्द्री, आँध्रप्रदेश आश्रम ने २८ फरवरी को सांस्कृतिक प्रतियोगिता आयोजित की, जिसमें ३९ विद्यालयों के ४३२३ छात्रों ने भाग लिया।

राँची आश्रम ने १९ मार्च को भक्त-शिविर का आयोजन किया, जिसमें २७५ भक्त उपस्थित थे।

स्वामी विवेकानन्द पैतृक निवास, कोलकाता में २७ फरवरी और १७ मार्च को व्याख्यान हुए, जिसमें ५५० लोगों सहभागी हुए। कोलकाता नगर में विभिन्न स्थानों पर ६ व्याख्यान आयोजित हुए, जिसमें लगभग ३१५० भक्त आध्यात्मिक विचारों से लाभान्वित हुए।

वाराणसी सेवाश्रम में २३, २६ फरवरी और २६ मार्च को व्याख्यान आयोजित हुए।

राँची मोराबादी आश्रम ने २२ फरवरी और २१ मार्च को नेत्रचिकित्सा शिविर आयोजित किया, जिसमें ११३७ रोगियों की जाँच की गई और ४ रोगियों के मोतियाबिन्द का आपरेशन किया।

तमलुक आश्रम ने विभिन्न कार्यक्रम आयोजित किये। इसमें १० सितम्बर के युवाशिविर में ५०० छात्र उपस्थित थे, ४ मार्च, २०१७ के शिक्षक सेमीनार में ३०० शिक्षकों ने भाग लिया, जनवरी से मार्च, २०१७ तक की सांस्कृतिक प्रतियोगिताओं में २२ विद्यालयों के ८००० छात्रों ने भाग लिया।

बराहनगर मठ द्वारा झोपड़वासियों के लिये निर्मित 'माँ सारदा आवास' का उद्घाटन ८ मार्च को रामकृष्ण मठ-मिशन के तत्कालीन महासचिव स्वामी सुहितानन्द जी महाराज ने किया।

विवेकानन्द विश्वविद्यालय, बेलूड़ मठ

भारत सरकार द्वारा संचालित योग और प्राकृतिक चिकित्सा विभाग ने १७ और १९ मार्च को बेलूड़ मठ परिसर में योग महोत्सव का आयोजन किया। इस त्रिदिवसीय कार्यक्रम का उद्घाटन रामकृष्ण मठ-मिशन के उपाध्यक्ष स्वामी गौतमानन्द जी महाराज ने किया। इस कार्यक्रम में प्रतिदिन लगभग १००० लोग उपस्थित रहते थे।

रामकृष्ण मिशन दिल्ली के तत्त्वावधान में १४ से २५ मार्च तक सात मूल्य शिक्षा आधारित सेमीनार आयोजित किये गए, जिसमें ४५४ शिक्षकों ने भाग लिया। ये सेमीनार, बिहार, दिल्ली, कर्णाटक और मध्यप्रदेश में आयोजित किये गये।

रामकृष्ण विवेकानन्द सेवा आश्रम, अम्बिकापुर में आध्यात्मिक शिविर आयोजित हुआ

७, ८ और ९ अप्रैल, २०१७ को रामकृष्ण विवेकानन्द सेवा आश्रम, अम्बिकापुर में आध्यात्मिक शिविर का आयोजन किया गया। इस शिविर का मार्गदर्शन रामकृष्ण मिशन, कानपुर के सचिव स्वामी सत्यमयानन्द जी महाराज ने किया। उन्होंने ७ अप्रैल की शाम को 'भारतात्मा भगिनी निवेदिता' पर व्याख्यान दिया। ८ अप्रैल को जप यज्ञ का आयोजन हुआ, जिसमें सन्ध्यारती के बाद स्वामी सत्यमयानन्द जी महाराज जी ने 'अवतारवरिष्ठ श्रीरामकृष्ण' पर व्याख्यान दिया। ९ अप्रैल को भक्त-सम्मेलन का आयोजन था, जिसमें महाराज ने 'गृहस्थों का आध्यात्मिक जीवन', 'माँ सारदा की आध्यात्मिक साधनाएँ', 'जप साधना' पर व्याख्यान दिए। शिविर में ९० भक्त उपस्थित थे। आश्रम के सचिव स्वामी तन्मयानन्द जी ने स्तोत्र एवं भजन गाए और रामकृष्णवचनामृत पाठ किया। OOO